॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [७]

उपदेशमाला

[गाथा और अर्थ]

—: कर्ता :—

धर्मदासगणि

—: अनुवादक :—

पू. पद्मविजयजी

—: संकलन :—

श्रुतोपासक

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अहमदाबाद-३८०००५

फोन : २२१३२५४३, ९४२६५८५९०४

E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार
प्रकाशन : संवत २०७४,

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतों और ज्ञानभंडार को भेंट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
३० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं ।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद काईनफेब (प्रा.) ली.
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-380002
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02, शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत
(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन
A-901, गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-12.
(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभंडार,
चंदनबाला भवन, 129, शाहुकर पेठ पासे, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-1.
(मो.) 9381096009, 044-23463107

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड
7/8, वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : **किरीट ग्राफिक्स**, अहमदाबाद (मो.) ९८९८४९००९१

उपदेशमाला

नमिऊण जिणवरिंदे, इंदनरिंदच्चिए तिलोअगुरु ।
उवएसमालमिणमो, वुच्छामि गुरुवएसेणं ॥१॥

शब्दार्थ : देवेन्द्र और नरेन्द्र (राजा) के द्वारा पूजित तथा तीनों लोकों के गुरु श्री जिनवरेन्द्र को नमस्कार कर तीर्थंकर, गणधर आदि गुरुजनों के उपदेश से मैं इस ''उपदेशमाला'' को कहूँगा ॥१॥

जगचूडामणिभूओ, उसभो वीरो तिलोयसिरितिलओ ।
एगो लोगाइच्चो, एगो चक्खू तिहुयणजणस्स ॥२॥

शब्दार्थ : जगत् में मुकुटमणि के समान, श्री ऋषभदेव तथा त्रिलोक के मस्तक में तिलक समान श्री महावीर स्वामी हैं । उनमें एक तो जगत् में सूर्यसमान हैं और दूसरे त्रिभुवन-जनों के लिए चक्षुरूप है ॥२॥

संवच्छरमुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो ।
इअ विहरियानिरसणा, जएज्ज एओवमाणेणं ॥३॥

शब्दार्थ : श्री ऋषभदेव भगवान् ने एक वर्ष और जिनचन्द्र श्रीवर्धमान स्वामी ने छह महीने तक आहार पानी

रहित विहार किया था । इसी दृष्टांत से दूसरों को भी तप में उद्यम करना चाहिए ॥३॥

जइ ता तिलोगनाहो, विसहइ बहुआइं असरिसजणस्स ।
इअ जीयंतकराइं, एस खमा सव्वसाहूणं ॥४॥

शब्दार्थ : यदि तीन लोक के नाथ श्री तीर्थंकर ने नीच लोगों के द्वारा दिये गये प्राणान्त अनेक प्रकार के कष्ट सहन किये हैं, तो सर्व साधुओं को ऐसी क्षमा (तितिक्षा) धारण करनी चाहिए ॥४॥

न चइज्जइ चालेउं, महइ-महावद्धमाणजिणचंदो ।
उवसग्गसहस्सेहिं वि, मेरु जहा वायगुंजाहिं ॥५॥

शब्दार्थ : जैसे मेरु पर्वत को प्रबल झंझावात चलायमान नहीं कर सकता; वैसे ही, मोक्षमति वाले महान् जिनचन्द्र श्री वर्धमानस्वामी को हजारों उपसर्ग चलायमान नहीं कर सके ॥५॥

भद्दो विणीयविणओ, पढम गणहरो समत्त-सुअनाणी ।
जाणंतोवि तमच्छं, विम्हिअहियओ सुणइ सव्वं ॥६॥

शब्दार्थ : भद्र और विशेष विनय वाले प्रथम गणधर श्री गौतमस्वामी समस्त श्रुतज्ञानी थे, उसके अर्थ को जानते थे, फिर भी जब प्रभु कहते थे, तब वे उन सब अर्थों (बातों) को विस्मित-हृदयवाले होकर सुनते थे ! ॥६॥

जं आणवेइ राया, पगईओ तं सिरेण इच्छंति ।
इअ गुरुजणमुहभणिअं, कयंजलिउडेहिं सोयव्वं ॥७॥

शब्दार्थ : राजा जो आज्ञा देता है, उस आज्ञा को सेवक और प्रजाजन शिरोधार्य करते हैं; उसी तरह गुरुजन अपने मुख से जो कहते हैं, उसे शिष्यों को हाथ जोड़कर सुनना चाहिए ॥७॥

जह सुरगणाण इंदो, गहगणतारागणाण जह चंदो ।
जह य पयाण नरिंदो, गणस्सवि गुरु तहा णंदो ॥८॥

शब्दार्थ : जैसे देवताओं के समूह में इन्द्र, ग्रह गणों में एवं तारा गणों में चन्द्रमा और प्रजाओं में राजा श्रेष्ठ है; वैसे ही साधुसमूह में आनन्दप्रदायक गुरु श्रेष्ठ हैं ॥८॥

बालुत्ति महीपालो, न पया परिभवइ एस गुरु-उवमा ।
जं वा पुरओ काउं, विहरंति मुणी तहा सोऽवि ॥९॥

शब्दार्थ : जैसे राजा बालक होने पर भी, प्रजा उसका अपमान नहीं करती; यही उपमा गुरु को दी गयी है । जैसे गीतार्थ मुनि चाहे बालक हो; उस बाल गुरु को भी प्रमुख मानकर विचरण करना चाहिए ॥९॥

पडिरुवो तेयस्सी, जुगप्पहाणागमो महुरवक्को ।
गंभीरो धिइमंतो, उवएसपरो अ आयरिओ ॥१०॥

शब्दार्थ : तीर्थंकर आदि के समान रूप वाले, तेजस्वी, युगप्रधान, मधुरवक्ता, गंभीर, धृतिमान और उपदेश देने वाले आचार्य होते हैं ॥१०॥

अपरिस्सावी सोमो, संगहसीलो अभिग्गहमई य ।
अविकत्थणो अचवलो, पसंतहियओ गुरु होइ ॥११॥

शब्दार्थ : तथा अप्रतिश्रावी, सौम्य, संग्रहशील, अभिग्रह-बुद्धि वाले, मितभाषी, स्थिर स्वभावी और प्रशान्त हृदयवाले गुरु होते हैं ॥११॥

कइयावि जिणवरिंदा, पत्ता अयरामरं पहं दाउं ।
आयरिएहिं पवयणं, धारिज्जइ संपयं सयलं ॥१२॥

शब्दार्थ : किसी समय जिनवरेन्द्रों ने भव्यजीवों को सन्मार्ग बताकर अजर-अमर स्थान प्राप्त किया था । वर्तमानकाल में आचार्यों ने उनकी समस्त सम्पदा और प्रवचन धारण किये हुए हैं ॥१२॥

अणुगम्मई भगवई, रायसुअज्जा सहस्सविंदेहिं ।
तहवि न करेइ माणं, परियच्छइ तं तहा नूणं ॥१३॥

शब्दार्थ : श्री भगवती राजपुत्री आर्या चन्दनबाला हजारों साध्वी वृन्दों के सहित होने पर भी अभिमान नहीं करती थीं । क्योंकि वह उसका निश्चय कारण जानती थीं ॥१३॥

दिणदिक्खियस्स दमगस्स, अभिमुहा अज्ज चंदणा अज्जा ।
नेच्छइ आसणगहणं, सो विणओ सव्वअज्जाणं ॥१४॥

शब्दार्थ : एक दिन के दीक्षित भिक्षुक साधु के सामने आर्या चन्दनबाला साध्वी खड़ी रही, और उसने आसन

ग्रहण करने की इच्छा नहीं की। ऐसा विनय सभी साध्वियों के लिए कहा है ॥१४॥

वरिससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू ।
अभिगमण वंदण-नमंसणेण, विणएण सो पुज्जो ॥१५॥

शब्दार्थ : आज का दीक्षित साधु हो तो भी वह सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी के द्वारा अभिगमन (सामने जाना) वंदन और नमस्कार से तथा विनय से पूजनीय है ॥१५॥

धम्मो पुरिसप्पभवो, पुरिसवरदेसिओ, पुरिसजिट्ठो ।
लोएवि पहू पुरिसो, किं पुण लोगुत्तमे धम्मे ॥१६॥

शब्दार्थ : धर्म पुरुष के द्वारा उत्पन्न हुआ है यानी प्रचलित किया हुआ है। और श्रेष्ठ पुरुष ने ही धर्म का प्रथम उपदेश दिया है। अतः पुरुष ही ज्येष्ठ (बड़ा) है। लोक व्यवहार में भी पुरुष ही स्वामी माना जाता है, तो लोकोत्तम धर्म में पुरुष की ज्येष्ठता मानी जाय, इसमें कहना ही क्या? ॥१६॥

संवाहणस्स रन्नो, तइया वाणारसीए नयरीए ।
कणासहस्समहियं, आसी किर रुववंतीणं ॥१७॥

तहवि य सा रायसिरि, उल्लट्टंती न ताइया ताहिं ।
उयरट्ठिएण इक्केण, ताइया अंगवीरेण ॥१८॥

शब्दार्थ : उस समय वाणारसी नगरी में संबाधन नामक राजा के अति रूपवती हजार कन्याएँ थीं। तथापि उसकी राजलक्ष्मी को लूटते समय वे रक्षा नहीं कर सकी। परंतु

गर्भ में रहे हुए अंगवीर्य नाम के पुत्र ने उसकी रक्षा की ॥१७-१८॥

महिलाण सुबहुयाणवि, मज्झाओ इह समत्थघरसारो
रायपुरिसेहिं निज्जइ, जणेवि पुरिसो जहिं नत्थि ॥१९॥

शब्दार्थ : इस जगत् में जिसके घर में पुत्र नहीं होता, वहाँ बहुत सी महिलाओं के रहते हुए भी समस्त घर का सार (धन) राजपुरुष ले जाते हैं ॥१९॥

किं परजण-बहुजाणावणाहिं, वरमप्पसक्खियं सुकयं ।
इह भरहचक्कवट्टी, पसन्नचंदो य दिट्ठंता ॥२०॥

शब्दार्थ : दूसरे लोगों को बहुत (धर्मक्रिया) बताने से क्या मतलब? सुकृत आत्मसाक्षिक करना ही श्रेष्ठ है । इस विषय में भरतचक्रवर्ती और प्रसन्नचन्द्र का दृष्टांत जानें ॥२०॥

वेसोवि अप्पमाणो, असंजमपएसु वट्टमाणस्स ।
किं परियत्तियवेसं, विसं न मारेइ खज्जंतं ॥२१॥

शब्दार्थ : असंयम-मार्ग में चलने वाले मुनि का वेष भी अप्रमाण है । क्या वेष बदल लेने वाले मनुष्य को जहर खाने पर वह मारता नहीं? अवश्य मारता है ॥२१॥

धम्मं रक्खइ वेसो, संकइ वेसेण दिक्खिओमि अहं ।
उम्मग्गेण पडंतं, रक्खइ राया जणवउव्व ॥२२॥

शब्दार्थ : वेष धर्म की रक्षा करता है । वेष होने से (समणोऽहं) 'मैं दीक्षित हूँ,' ऐसा जानकर किसी बुरे कार्य

में प्रवृत्त होने में खुद शंकित होगा। जैसे राजा जनपद (देश) की रक्षा करता है, वैसे ही उन्मार्ग में गिरते हुए व्यक्ति की वेष भी रक्षा करता है ॥२२॥

अप्पा जाणइ अप्पा, जहट्ठिओ अप्पसक्खिओ धम्मो।
अप्पा करेइ तं तह, जह अप्पसुहावओ होइ ॥२३॥

शब्दार्थ : आत्मा ही अपने आप (आत्मा) को यथार्थ (यथास्थित) रूप से जानता है। इसीलिए आत्म-साक्षी का धर्म ही प्रमाण है। इससे आत्मा को वही क्रियानुष्ठान करना चाहिए, जो अपने (आत्मा के) लिए सुखकारी हो ॥२३॥

जं जं समयं जीवो, आविसइ जेण जेण भावेण।
सो तम्मि तम्मि समए, सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२४॥

शब्दार्थ : जीव जिस जिस समय जैसे-जैसे भाव करता है, उस-उस समय वह शुभ या अशुभ कर्म बाँधता है ॥२४॥

धम्मो मएण हुंतो, तो नवि सीउण्हवायविज्झडिओ।
संवच्छरमणसिओ, बाहुबली तह किलिस्संतो ॥२५॥

शब्दार्थ : यदि धर्म अभिमान से होता तो बाहुबलि को; जो शीत, उष्ण, वायु आदि कठोर परिषह सहते हुए एक वर्ष तक निराहार रहे, वहाँ केवल ज्ञान हो जाता (पर हुआ नहीं) ॥२५॥

निअगमइविगप्पिय-चिंतिएण, सच्छंदबुद्धिरइएण।
कत्तो पारत्तहियं, कीरइ गुरु-अणुवएसेणं ॥२६॥

शब्दार्थ : गुरु के उपदेश को अयोग्य समझने वाला, अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से कल्पना करके विचरने वाला और स्वतन्त्र बुद्धि से चेष्टा करने वाला जीव अपना पारलौकिक हित कैसे कर सकता है? ॥२६॥

थद्धो निरुवयारी अविणिओ, गव्विओ निरुवणामो ।
साहुजणस्स गरहिओ, जणे वि वयणिज्जयं लहइ ॥२७॥

शब्दार्थ : स्तब्ध (अक्कड़) निरुपकारी, अविनीत, गर्वित, किसी के सामने नमन न करने वाला पुरुष, साधुजनों द्वारा निन्दित है और आम जनता में भी वह निन्दनीयता पाता है ॥२७॥

थोवेणवि सप्पुरिसा, सणंकुमार व्व केइ बुज्झंति ।
देहे खण परिहाणी, जं किर देवेहिं से कहियं ॥२८॥

शब्दार्थ : सत्पुरुष (सुलभबोधि व्यक्ति) सनत्कुमार चक्री की तरह जरा सा निमित्त पाकर बोध प्राप्त कर लेते हैं । सुना है, देवताओं ने सनत्कुमार से इतना ही कहा था कि 'तुम्हारे शरीर का रूप क्षणमात्र में नष्ट हो गया है । इतना-सा वचन ही उनके लिये प्रतिबोध का कारण बना।' ॥२८॥

जइ ताव लवसत्तमसुरविमाणवासी, वि परिवडंति सुरा ।
चिंतिज्जंतं सेसं, संसारे सासयं कयरं ॥२९॥

शब्दार्थ : यदि अनुत्तरविमानवासी देवताओं का भी आयुष्य पूर्ण हो जाता है तो फिर विचार करें कि शेष संसार में क्या (किसका जीवन) शाश्वत (कायम) है? ॥२९॥

कह तं भन्नइ सोक्खं, सुचिरेणवि जस्स दुक्खमल्लियइ ।
जं च मरणावसाणे, भव संसाराणुबंधि च ॥३०॥

शब्दार्थ : चिरकाल के बाद भी जिसके परिणाम में दुःख निहित है, उसे सुख कैसे कहें? और मृत्यु के बाद जिसके साथ भव (जन्म-मरणरूप संसार) का अनुबंध होता है ॥३०॥

उवएससहस्सेहिं वि, बोहिज्जंतो न बुज्झई कोई ।
जह बंभदत्तराया, उदाइनिवमारओ चेव ॥३१॥

शब्दार्थ : किसी मनुष्य को हजारों प्रकार से उपदेश देने पर भी प्रतिबोध नहीं होता। जैसे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और उदायी राजा को मारने वाले को बोध नहीं हुआ ॥३१॥

गयकन्नचंचलाए, अपरिचत्ताए, रायलच्छीए ।
जीवा सकम्मकलिमलभरियभरा तो पडंति अहे ॥३२॥

शब्दार्थ : जो जीव, हाथी के कान की तरह चंचल राजलक्ष्मी को नहीं छोड़ते, वे अपने दुष्कर्म के कलिमल के भार से अधोगति में गिरते हैं ॥३२॥

वोत्तूणवि जीवाणं, सुदुक्कराइं ति पावचरियाइं ।
भयवं जा सा सा सा, पच्चाएसो हु इणमो ते ॥३३॥

शब्दार्थ : कितने ही जीवों के पापचरित्रों को मुख से कहना भी अति दुष्कर होता है । इस बारे में दृष्टांत है- भगवान् से पूछा-यह वही है ? भगवान् ने कहा-हाँ, यह वही है ॥३३॥

पडिवज्जिऊण दोसे, निअए सम्मं च पायपडिआए ।
तो किर मिगावईए, उप्पन्नं केवलं नाणं ॥३४॥

शब्दार्थ : अपने दोष स्वीकारकर सम्यक् प्रकार से गुरु के चरणों में पड़ी; इसी कारण मृगावती को केवलज्ञान प्राप्त हुआ ॥३४॥

किं सक्का वोत्तुं जे, सरागधम्मंमि कोइ अकसाओ ।
जो पुण धरिज्ज धणियं, दुव्वयणुज्जालिए स मुणी ॥३५॥

शब्दार्थ : क्या यह कहा जा सकता है कि सरागधर्म में अकषायी कोई होता है ? नहीं, मगर इस धर्म से युक्त जो साधक दुर्वचन रूपी आग से प्रज्वलित न होकर अकषाय को धारण करता है, वह धन्य है, वही वास्तव में मुनि है ॥३५॥

कडुअं कसायतरुणं, पुप्फं च फलं च दोवि विरसाइं ।
पुप्फेण झाइ कुविओ, फलेण पावं समायरइ ॥३६॥

शब्दार्थ : कषाय रूपी वृक्ष के फूल और फल दोनों कड़वे और बेस्वाद होते हैं । फूल के कारण व्यक्ति कुपित होता है और फल के कारण पाप का आचरण करता है ॥३६॥

संतेऽवि कोऽवि उज्झइ, कोवि असंतेऽवि अहिलसइ भोए ।
चयइ परपच्चएण वि, पभवो दट्ठुण जह जंबू ॥३७॥

शब्दार्थ : विषयभोग के साधन होने पर भी कोई उन्हें छोड़ देता है और कोई विषयभोग के साधन अपने पास न होने पर उनको पाने की (मन ही मन) अभिलाषा करता है । कोई दूसरे

के निमित्त से (दूसरे को विषयभोग छोड़ते देखकर) विषयभोगों का त्याग कर देता है; जैसे जम्बूकुमार को देखकर प्रभव ने विरक्त होकर विषयभोग छोड़ दिये थे ॥३७॥

दीसंति परमघोरावि, पवरधम्मप्पभावपडिबुद्धा ।
जह सो चिलाइपुत्तो, पडिबुद्धो सुंसुमाणाए ॥३८॥

शब्दार्थ : अत्यंत भयंकर और रौद्रध्यानी व्यक्ति भी (धर्मप्रवरों के) श्रेष्ठ और शुद्ध धर्म के प्रभाव से प्रतिबुद्ध (अधर्म को छोड़कर धर्म में जाग्रत) होते दिखाई देते हैं । जैसे चिलातीपुत्र को सुसुमा के निमित्त से प्रतिबोध प्राप्त हो गया था ॥३८॥

पुप्फियफलिए तह पिउघरंमि, तण्हा-छुहा-समणुबद्धा ।
ढंढेण तहा विसढा, विसढा जह सफलया जाया ॥३९॥

शब्दार्थ : ढंढणकुमार अपने पिता के यहाँ बहुत फूले-फले थे, लेकिन मुनि बनकर जैसे उन्होंने तृषा (प्यास) और क्षुधा (भूख) समभाव से सहन की, वैसे ही सहन करने (सहिष्णुता) से सफलता मिलती है ॥३९॥

आहारेसु सुहेसु अ, रम्मावसहेसु काणणेसु च ।
साहूण नाहिगारो, अहिगारो धम्मकज्जेसु ॥४०॥

शब्दार्थ : बढ़िया आहार, रमणीय उपाश्रय (धर्मस्थान) या सुंदर उद्यान पर साधुओं का कोई अधिकार नहीं होता; उनका अधिकार तो केवल धर्मकार्यों में ही होता है ॥४०॥

साहू कंतारमहाभएसु, अवि जणवए वि मुइयम्मि ।
अवि ते सरीरपीडं, सहंति न लहंति य विरुद्धं ॥४१॥

शब्दार्थ : साधु महाभयंकर घोर जंगलों में भी सुखसामग्री से समृद्ध जनपद (प्रदेश) की तरह निरुपद्रव समझकर सर्वत्र कष्टसहिष्णु होकर शारीरिक पीड़ा सहन करते हैं; किन्तु साधुधर्म के नियमों के विरुद्ध आहारादि ग्रहण नहीं करते ॥४१॥

जंतेहिं पीलियावी हु, खंदगसीसा न चेव परिकुविया ।
विइयपरमत्थसारा, खमंति जे पंडिया हुंति ॥४२॥

शब्दार्थ : यंत्र (घाणी) में पीलने पर भी स्कन्दकाचार्य के शिष्य कुपित नहीं हुए, क्योंकि वे परमार्थ के तत्त्व को जान गये थे । जो पण्डित होते हैं, वे स्वयं कष्ट सहते हैं, किन्तु अपकारी को भी क्षमा कर देते हैं ॥४२॥

जिणवयण-सुइ-सकण्णा, अवगयसंसारघोरपेयाला ।
बालाण खमंति जई, जइत्ति किं एत्थ अच्छेरं ? ॥४३॥

शब्दार्थ : जिनेन्द्र भगवान् के वचन सुनने से जिसके कान 'सुकर्ण' हो गये हैं, और जिन्होंने घोर संसार के असार स्वरूप को जान लिया है, ऐसे स्वरूपज्ञ व्यक्ति यदि दुष्टचेष्टा वाले बालजीवों को क्षमा कर देते हैं तो इसमें कौन सी आश्चर्य की बात है ? ॥४३॥

न कुलं एत्थ पहाणं, हरिएसबलस्स किं कुलं आसि ? ।
आकंपिया तवेणं, सुरा वि जं पज्जुवासंति ।।४४।।

शब्दार्थ : इस धर्म में कुल की प्रधानता नहीं है । क्योंकि मुनि हरिकेशबल का कौन-सा कुल था ? फिर भी उनके तप से आकम्पित (प्रभावित) होकर देव भी उनकी सेवा करते थे ।।४४।।

देवो नेरइओ त्ति य, कीडपयंगु त्ति माणुसो एसो ।
रुवस्सी य विरुवो, सुहभागी दुक्खभागी अ ।।४५।।

राउ त्ति य दमगुत्ति य, एस सपागु त्ति एस वेयविऊ ।
सामी दासो पुज्जो, खलो त्ति अधणो धणवइ त्ति ।।४६।।

न वि इत्थ कोऽवि नियमो, सकम्मविणिविट्ठसरिसकयचिट्ठो ।
अन्नुन्न रुववेसो, नडु व्व परियत्तए जीवो ।।४७।।

शब्दार्थ : यह जीव अपने-अपने कर्मवश देव बना, नारक बना, कीड़ा और पतंग आदि अनेक प्रकार का तिर्यंच बना, मनुष्य का रूप धारण किया, कभी रूपवान बना, कभी कुरूप बना, कभी सुखभागी बना और कभी दुःखभागी, कभी राजा बना, कभी रंक बना, कभी चाण्डाल बना और कभी वेदवेत्ता ब्राह्मण बना, कभी स्वामी, कभी दास, कभी पूज्य (उपाध्याय आदि), कभी दुर्जन बना, कभी निर्धन और कभी धनवान । संसार में ऐसा कोई नियम नहीं है कि उच्चकुल में जन्मा हुआ भविष्य में उच्चगति, योनि या गोत्र

में ही पैदा हो और नीचकुल में जन्मा हुआ भविष्य में नीच गति, योनि या गोत्र में ही पैदा हो । अपितु जीव के जैसे अपने कर्म होते हैं, उसी प्रकार की चेष्टा करता हुआ वह नट की तरह नये-नये रूप और वेश धारण करके संसार में परिभ्रमण करता है ॥४५-४६-४७॥

कोडीसएहिं धणसंचयस्स, गुणसुभरियाए कन्नाए ।
न वि लुद्धो वयररिसि, अलोभया एस साहूणं ॥४८॥

शब्दार्थ : सैकड़ों कोटि धनराशि और गुणों से परिपूर्ण कन्या उनके चरणों में आयी, मगर वज्रस्वामी जरा भी लुब्ध नहीं हुए । इसी प्रकार अन्य साधुओं को भी ऐसी निर्लोभता धारण करनी चाहिए ॥४८॥

अंतेउर-पुर-बल-वाहणेहिं, वरसिरिघरेहिं मुणिवसहा ।
कामेहिं बहुविहेहिं य, छंदिज्जंता वि नेच्छंति ॥४९॥

शब्दार्थ : 'सुंदर कामिनियाँ, नगर, चतुरंगिणी सेना, हाथी-घोड़े आदि सवारियाँ, उत्तम धन के भण्डार और अनेक प्रकार के साधन पंचेन्द्रिय-विषयसुख सामग्री-के लिए निमन्त्रित करने पर भी मुनि वृषभ (श्रेष्ठ साधु) इन्हें बिलकुल नहीं चाहते । वे तो सिर्फ अपने चारित्र धर्म को सुरक्षित रखने की इच्छा करते हैं' ॥४९॥

छेओ भेओ वसणं, आयास-किलेस-भय-विवागो य ।
मरणं धम्मब्भंसो, अरई अत्था उ सव्वाइं ॥५०॥

शब्दार्थ : छेदन, भेदन, व्यसन (विपत्ति), आयास, क्लेश, भय, विवाद, मृत्यु, धर्मभ्रष्टता और अरति (जीवन से ऊब जाना) ये सब अनर्थ अर्थ (धन) से होते हैं ।।५०।।

दोससयमूलजालं, पुव्वरिसिविवज्जियं जई वंतं ।
अत्थं वहसि अणत्थं, कीस अणत्थं तवं चरसि ? ।।५१।।

शब्दार्थ : सैकड़ों दोषों का मूल कारण होने से मूर्च्छाजाल (धनादि के प्रति आसक्तिजाल) रखना पूर्वऋषियों द्वारा वर्जित है । यदि साधु होकर भी वमन किये हुए (स्वयं द्वारा त्यागे हुए) अनर्थकारी धन को रखता है तो फिर वह व्यर्थ ही तपश्चरण क्यों करता है ? ।।५१।।

वह-बंध-मारण-सेहणाओ, काओ परिग्गहे नत्थि ? ।
तं जइ परिग्गहुच्चिय, जइधम्मे तो नणु पवंचो ! ।।५२।।

शब्दार्थ : क्या परिग्रह के कारण मारपीट, बंधन, प्राणनाश, तिरस्कार आदि नहीं होते ? इसे जानता हुआ भी साधु यदि परिग्रह रखता है तो उसका यतिधर्म प्रपंचमय ही है ।।५२।।

किं आसी नंदिसेणस्स, कुलं जं हरिकुलस्स विउलस्स ।
आसी पियामहो सच्चरिएण वसुदेवनामुत्ति ।।५३।।

शब्दार्थ : ''नंदीषेण कौन-सा उत्तम कुल का था ? वह तो दरिद्र ब्राह्मणकुल में जन्मा था; लेकिन उत्कृष्ट धर्माचरण से ही वह (नंदीषेण का जीव) विशाल हरिवंश में यादवकुल

के पितामह वसुदेव के रूप में पैदा हुआ।" अतः सिर्फ कुल तारने वाला नहीं होता; अपितु किसी भी कुल में जन्म लेकर की हुई उत्कृष्ट धर्मकरणी ही जन्मांतर में हितकारिणी और भवोत्तारिणी हुई ॥५३॥

विज्जाहरीहिं सहरिसं, नरिंद-दुहियाहिं अहमहंतीहिं ।
जं पत्थिज्जइ तइया, वसुदेवो तं तवस्स फलं ॥५४॥

शब्दार्थ : उस समय जो विद्याधरियों और राजपुत्रियों ने 'मैं पहले-मैं पहले' इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा पूर्वक सहर्ष वासुदेव को विवाह के लिए प्रार्थना की थी, वह (उसकी) तपस्या का ही फल था ॥५४॥

सपरक्कम राउलवाइएण, सीसे पलीविलिए नियए ।
गयसुकुमालेण खमा, तहा कया जह सिवं पत्तो ॥५५॥

शब्दार्थ : पराक्रमी श्रीकृष्ण वासुदेव के छोटे भाई गजसुकुमार; (जिसका बड़ी अच्छी तरह से लालन पालन हुआ था) मुनि के मस्तक पर जलते हुए अंगारे रखे गये। फिर भी उन्होंने ऐसी उत्कृष्ट क्षमा धारण की, जिससे शीघ्र मोक्ष प्राप्त किया ॥५५॥

रायकुलेसुऽवि जाया, भीया जर-मरण-गब्भवसहीणं ।
साहू सहंति सव्वं, नीयाण वि पेसपेसाणं ॥५६॥

शब्दार्थ : राजकुल में उत्पन्न होकर भी बुढ़ापा, मृत्यु, गर्भ आदि के दुःखों से भयभीत साधु नीचकुल में पैदा हुए

नादान नौकर के दुर्वचन आदि उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहते हैं; उसी प्रकार सभी संयमी साधुओं को क्षमाशील बनकर सहन करना चाहिए ॥५६॥

पणमंति य पुव्वयरं, कुलया न नमंति अकुलया पुरिसा ।
पणओ इह पुव्विं जइ जणस्स जह चक्कवट्टीमुणी ॥५७॥

शब्दार्थ : कुलीन पुरुष पहले नमस्कार करते हैं, किन्तु अकुलीन पुरुष नहीं । जैसे चक्रवर्ती मुनि बन जाने पर पूर्व दीक्षित मुनियों को नमस्कार करता है । अर्थात् चक्रवर्ती ६ खण्ड की राज्य-ऋद्धि छोड़कर भी गर्वोद्धत नहीं होता; अपितु मुनि बन जाने पर वह पहले अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ मुनियों को नमन करता है ॥५७॥

जह चक्कवट्टीसाहू, सामाइय साहूणा निरुवयारं ।
भणिओ न चेव कुविओ, पणओ बहुयत्तणगुणेणं ॥५८॥

शब्दार्थ : चक्रवर्ती मुनि जब ज्येष्ठमुनि को सरलता से प्रथम वंदन नहीं करता तो सामान्य साधु उसे कठोर शब्दों या तुच्छ शब्दों से कहे कि "तू अपने से दीक्षापर्याय में बड़े साधु की वंदना क्यों नहीं करता ?" इस पर भी चक्रवर्ती मुनि उस पर जरा भी रोष नहीं करता, न झुंझलाकर जवाब देता है, अपितु तुरंत अपनी भूल सुधारकर बहुमान पूर्वक अपने से ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों में अधिक ज्येष्ठ मुनि की

वंदना करता है; इसी प्रकार की गुणग्राहिता का व्यवहार सभी साधुओं को करना चाहिए ॥५८॥

ते धन्ना ते साहू, तेसिं नमो जे अकज्जपडिविरया ।
धीरा वयमसिहारं चरंति, जह थूलभद्दमुणी ॥५९॥

शब्दार्थ : उन सुसाधुओं-संतों को धन्य है, जो अकार्यों से निवृत्त हैं । उन धीरपुरुषों को नमस्कार है, जो तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हैं; जैसे स्थूलभद्र मुनि ने इस दुष्कर व्रत का आचरण किया था ॥५९॥

विसयाऽसिपंजरमिव, लोए असिपंजरम्मि तिक्खंमि ।
सीहा व पंजरगया, वसंति तवपंजरे साहू ॥६०॥

शब्दार्थ : 'जैसे जगत् में तीक्ष्ण खड्गरूपी पिंजरे से भयभीत सिंह लकड़ी के पिंजरे में रहता है, वैसे ही विषयरूपी तीक्ष्ण तलवार से डरे हुए मुनि भी तप रूपी पिंजरे में रहते हैं ॥६०॥

जो कुणइ अप्पमाणं, गुरुवयणं न य लहेइ उवएसं ।
सो पच्छा तह सोअइ, उवकोसघरे जह तवस्सी ॥६१॥

शब्दार्थ : जो गुरुवचनों को ठुकरा देता है, उनके हितकर उपदेश को ग्रहण नहीं करता; वह बाद में पछताता है । जैसे सिंहगुफावासी तपस्वी मुनि ने (स्थूलभद्र मुनि से ईर्ष्यावश) उपकोशा के यहाँ जाकर पश्चात्ताप किया था ॥६१॥

जेड्डव्वयपव्वयभर-समुव्वहण—ववसियस्स, अच्चंतं ।
जुवइजणसंवइयरे, जइत्तणं उभयओ भट्ठं ॥६२॥

शब्दार्थ : मेरुपर्वत के समान महाव्रतों के भार को जीवन पर्यन्त निभाने में अत्यंत उद्यमशील मुनि को युवतियों का अतिसम्पर्क उपर्युक्त कथा के अनुसार द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से भ्रष्ट करने का कारण बनता है । इसीलिए मुमुक्षु साधक को स्त्रियों के परिचय से अवश्य बचना चाहिए ॥६२॥

जइ ठाणी जइ मोणी, जइ मुंडी वक्कली तवस्सी वा ।
पत्थन्तो अ अबंभं, बंभावि न रोयए मज्झं ॥६३॥

शब्दार्थ : कोई व्यक्ति चाहे कितना ही कायोत्सर्ग-ध्यान-करता हो, मौन रखता हो, मुंडित हो, (यानी सिर के बालों का लोच करता हो) वृक्षों की छाल के कपड़े पहनता हो, अथवा कठोर तपस्या करता हो, यदि वह मैथुनजन्य विषयसुख की प्रार्थना करता हो तो चाहे वह ब्रह्मा ही क्यों न हो, मुझे वह रुचिकर नहीं लगता विषयसुख में आसक्त व्यक्ति साधु होने का ढोंग करके चाहे जितना शरीर को कष्ट दे, वह सब निष्फल, निष्प्रयोजन है ॥६३॥

तो पढियं तो गुणियं, तो अ मुणियं चेइओ अप्पा ।
आवडियपेल्लियामंतिओ वि जइ न कुणइ अकज्जं ॥६४॥

शब्दार्थ : वास्तव में वही मनुष्य पढ़ा-लिखा है, वही समझदार है और वही विचारक है, जो दुष्ट दुःशील मनुष्यों

के कुसंसर्ग में पड़ जाने पर भी तथा पापी मित्रों से बुरे कार्यों में प्रेरित किये जाने पर भी अथवा सुंदरियों द्वारा आमंत्रित किये जाने पर भी अकार्य (मैथुन सेवन आदि) करने को तैयार नहीं होता ॥६४॥

पागडियसव्वसल्लो, गुरुपायमूलंमि लहइ साहूपयं ।
अविसुद्धस्स न वड्ढइ, गुणसेढी तत्तिया ठाइ ॥६५॥

शब्दार्थ : गुरु के चरणों में जो अपने समस्त शल्यों को खोलकर रख देता है; वही वास्तव में साधुपद को प्राप्त करने वाला है । परंतु जो व्यक्ति दोष-शल्यों से रहित होकर विशुद्ध नहीं बनता, उसकी गुणश्रेणी आगे नहीं बढ़ती, वह वहीं स्थिर हो (अटक) जाता है ॥६५॥

जइ दुक्करदुक्करकारओत्ति, भणिओ जहट्ठिओ साहू ।
तो कीस अज्जसंभूअविजय-सीसेहिं नवि खमियं ? ॥६६॥

शब्दार्थ : अगर अपने ज्ञानादि आत्मस्वभाव में स्थित स्थूलभद्र मुनि को उनके गुरु आचार्य सम्भूतिविजय ने तीन बार दुष्करकारक कह दिया तो इसे उनके सिंहगुफावासी मुनि आदि अन्य शिष्यों ने सहन क्यों नहीं किया ? ॥६६॥

जइ ताव सव्वओ सुंदरुत्ति, कम्माण उवसमेण जई ।
धम्मं वियाणमाणो, इयरो किं मच्छंर वहइ ॥६७॥

शब्दार्थ : यदि कोई व्यक्ति कर्मों के उपशम से सर्वांग-सुंदर कहलाता है तो कर्मों के क्षय व उपशम रूप धर्म का

ज्ञाता दूसरा साधक उससे ईर्ष्या-डाह-क्यों करता है ? उसे स्वयं कर्मक्षय या कर्मोंपशम करके वैसा सर्वांग सुंदर बनने का प्रयत्न करना चाहिए ॥६७॥

अइसुट्ठिओ त्ति गुणसमुइओ त्ति जो न सहइ जइपसंसं ।
सो परिहाइ परभवे, जहा महापीढ-पीढरिसी ॥६८॥

शब्दार्थ : अगर कोई व्यक्ति गुणवान् व्यक्ति की-'यह अपने धर्म में स्थिर है, गुण-समूह से युक्त है,' इस प्रकार की प्रशंसा नहीं सहता तो वह अगले जन्म में हीनत्व (पुरुषवेद से स्त्रीवेद) प्राप्त करता है। जैसे पीठ और महापीठ ऋषि ने असहिष्णु होकर अगले जन्म में स्त्रीत्व प्राप्त किया था ॥६८॥

परपरिवायं गिण्हइ, अट्ठमय-विरल्लणे सया रमइ ।
डज्झइ य परसिरीए, सकसाओ दुक्खिओ निच्चं ॥६९॥

शब्दार्थ : जो दूसरे जीवों की निंदा करता है, आठों मदों में सदा आसक्त रहता है, और दूसरे की सुख-संपदा देखकर दिल में जलता है, वह जीव कषाययुक्त होकर सदा दुःखी रहता है ॥६९॥

विग्गह-विवाय-रुइणो, कुलगणसंघेण बाहिरकयस्स ।
नत्थि किर देवलोए वि, देवसमिईसु अवगासो ॥७०॥

शब्दार्थ : कलह और विवाद की रुचि वाले तथा कुल, गण और संघ से बाहर किये हुए जीव को देवलोक की देवसभा में भी अवकाश (प्रवेश) नहीं मिल सकता ॥७०॥

जइ ता, जणसंववहारवज्जियमकज्जमायरइ अन्नो ।
जो तं पुणो विकत्थइ, परस्स वसणेण सो दुहिओ ॥७१॥

शब्दार्थ : यदि कोई जीव लोकव्यवहार में वर्जित चौर्यादि अकार्य करता है तो वह अनाचार-सेवन से स्वयं दुःखी होता है और जो पुरुष उस पापकर्म को अन्य लोगों के समक्ष बढ़ा-चढ़ाकर कहता है, वह दूसरे के व्यसन (आदत) से दुःखी होता है ॥७१॥

सुट्ठवि उज्जममाणं पंचेव, करिंति रित्तयं समणं ।
अप्पथुई परनिंदा, जिम्भोवत्था कसाया य ॥७२॥

शब्दार्थ : तप, संयम आदि धर्माचरण में भलीभांति पुरुषार्थ करने वाले साधु को ये पाँच दोष गुणों से खाली कर देते हैं-१. आत्मस्तुति, २. परनिन्दा, ३. जीभ पर असंयम, ४. जननेन्द्रिय पर असंयम और ५. कषाय ॥७२॥

परपरिवायमईओ, दूसइ वयणेहिं जेहिं जेहिं परं ।
ते ते पावइ दोसे, परपरिवाई इय अपिच्छो ॥७३॥

शब्दार्थ : दूसरों की निन्दा करने की बुद्धिवाला पुरुष जिन-जिन वचनों से पराये दोष प्रकट करता है, उन-उन दोषों को स्वयं में भी धीरे-धीरे प्रवेश कराता जाता है । ऐसा पुरुष वास्तव में अदर्शनीय है । अर्थात् परनिन्दाकारी पापी का मुख भी देखने योग्य नहीं है ॥७३॥

थद्धा च्छिद्दप्पेही, अवण्णवाई सयंमई चवला ।
वंका कोहणसीला, सीसा उव्वेअगा गुरुणो ।।७४।।

शब्दार्थ : स्तब्ध (अहंकारी), छिद्रान्वेषी, अवर्णवादी (निन्दक), स्वच्छन्दमति, चंचल, वक्र और क्रोधी शिष्य गुरु को उद्विग्न करने वाले बन जाते हैं ।।७४।।

जस्स गुरुम्मि न भत्ती, न य बहुमाणो न गउरवं न भयं ।
नवि लज्जा नवि नेहो, गुरुकुलवासेण किं तस्स ।।७५।।

शब्दार्थ : जिस शिष्य में गुरु महाराज पर न तो विनय-भक्ति हो, न बहुमान हो, यानी हृदय में प्रेम न हो, न गुरु के प्रति गुरुबुद्धि हो; और न ही भय, लज्जा या किसी प्रकार का स्नेह हो; ऐसे शिष्य के गुरुकुलवास में रहने या रखने से क्या लाभ है ? अर्थात् ऐसे दुर्विनीत शिष्य को गुरु के पास रहना या रखना व्यर्थ है ।।७५।।

रुसइ चोइज्जंतो, वहइ य हियएण अणुसयं भणिओ ।
न य कम्हिं करणिज्जे, गुरुस्स आलो न सो सीसो ।।७६।।

शब्दार्थ : जो शिष्य गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर रोष करता है, सामान्य हितशिक्षा देने पर भी गुरु के सामने बोलकर उन्हें डांटने लगता है; तथा जो गुरु के किसी काम में नहीं आता; वह शिष्य नहीं है । वह तो केवल कलंक-रूप है । शिक्षा ग्रहण करे, वही शिष्य कहलाता है ।।७६।।

उव्विलण-सूअण-परिभवेहिं, अइभणिय दुट्ठभणिएहिं ।
सत्ताहिया सुविहिया, न चेव भिंदंति मुहरागं ॥७७॥

शब्दार्थ : दुर्जनों के द्वारा उद्वेगकर, सूचना-(चेतावनी)-रूप परिभव (तिरस्कार)-रूप अतिशिक्षा (डांट-फटकार) रूप कर्कश वचन कहे जाने पर भी सत्त्वगुणी सुविहित अपने मुंह का रंग नहीं बदलते ॥७७॥

माणंसिणो वि अवमाण-वंचणा, ते परस्स न करेंति ।
सुह दुक्खग्गिरणत्थं, साहू उयहिव्व गंभीरा ॥७८॥

शब्दार्थ : इन्द्रादिक के द्वारा सम्माननीय साधु दूसरों का अपमान या दूसरों के सुख को उच्छेदन करने व दुःख में डालने के लिए वंचना (ठगी) नहीं करते । वे तो सागर की तरह गंभीर होते हैं ॥७८॥

मउआ निहुअसहावा, हासदवविवज्जिया विग्गहमुक्का ।
असमंजसमइबहुअं, न भणंति अपुच्छिया साहू ॥७९॥

शब्दार्थ : साधु मृदु और शांत स्वभाव वाले होते हैं, हास्य और भय से दूर होते हैं, वे कलह, विकथा आदि से भी मुक्त होते हैं; पूछने पर भी वे असंबद्ध नहीं बोलते ॥७९॥

महुरं निउणं थोवं, कज्जावडिअं अगव्वियमतुच्छं ।
पुव्विंमइसंकलियं, भणंति जं धम्मसंजुत्तं ॥८०॥

शब्दार्थ : साधु मधुर, निपुणता से युक्त, नपे तुले शब्दों में, प्रसंग होने पर, गर्व रहित, तुच्छता रहित और पहले से

भलीभांति बुद्धि से विचार करके, धर्मयुक्त और सत्य वचन बोलते हैं । प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी वे अधर्मयुक्त वचनों का उच्चारण नहीं करते ॥८०॥

सट्ठिं वाससहस्सा, तिसत्तखुत्तोदएण धोएणं ।
अणुचिण्णं तामलिणा, अन्नाणतवुत्ति अप्पफलो ॥८१॥

शब्दार्थ : तामलितापस ने साठ हजार वर्ष तक छट्ठ (दो उपवास) तप किया । पारणे के दिन वह इक्कीस बार जल से भोजन को धोकर पारणा करता था; परंतु अज्ञानतप होने से वह अल्पफल वाला हुआ ॥८१॥

छज्जीवकायवहगा, हिंसगसत्थाइं उवइसंति पुणो ।
सुबहुं पि तवकिलेसो, बालतवस्सीण अप्पफलो ॥८२॥

शब्दार्थ : छह जीवनिकाय का वध करने वालों का, हिंसा की प्ररूपणा करने वाले शास्त्रों का उपदेश देने वालों और बाल-तपस्वियों का अतिप्रचुर तपक्लेश भी अल्पफल देने वाला होता है ॥८२॥

परियच्छंति य सव्वं, जहट्ठियं अवितहं असंदिद्धं ।
तो जिणवयणविहिन्नू, सहंति बहुअस्स बहुआइं ॥८३॥

शब्दार्थ : जो जीव-अजीव आदि सर्व पदार्थों के स्वरूप को यथावस्थित, सत्य और संदेह रहित जानता है; जिनवचन की विधि का जानकार होने से वह अनेक बार बहुत लोगों के दुर्वचन सहन कर लेता है ॥८३॥

जो जस्स वट्टए हियए, सो तं ठावेइ सुंदरसहावं ।
वग्घीच्छावं जणणी, भद्दं सोमं च मन्नेइ ॥८४॥

शब्दार्थ : जो जिसके हृदय में बस जाता है, वह उसे सुंदर स्वभाव वाला मानने लगता है । बाघ की माँ अपने बच्चे को भद्र और सौम्य ही मानती है ॥८४॥

मणि-कणगरयण-धण पूरियंमि, भवणंमि सालिभद्दोऽवि ।
अन्नो किर मज्झ वि, सामिओत्ति जाओ विगयकामो ॥८५॥

शब्दार्थ : मणि, कंचन, रत्न और धन से भरे हुए महल में रहने वाला शालिभद्र सेठ "मेरे ऊपर भी और कोई स्वामी है" ऐसा जानकर विषय भोगों से विरक्त हो गया ॥८५॥

न करंति जे तव-संजमं च, ते तुल्लपाणिपायाणं ।
पुरिसा समपुरिसाणं, अवस्स पेसत्तणमुविंति ॥८६॥

शब्दार्थ : जो जीव तप-संयम का आचरण नहीं करता, वह आगामी जन्म में अवश्य ही पुरुष के समान हाथ पैर वाला पुरुष की सी आकृति वाला दास बनकर दासत्व प्राप्त करता है ॥८६॥

सुंदर-सुकुमाल-सुहोइएण, विविहेहिं तवविसेसेहिं ।
तह सोसविओ अप्पा, जह नवि नाओ सभवणेऽवि ॥८७॥

शब्दार्थ : शालिभद्र ने मुनि बनकर विविध प्रकार की विशिष्ट तपश्चर्याओं से अपने शरीर को इस प्रकार सुखा दिया कि अपने घर जाने पर भी वे पहचाने नहीं जा सके ॥८७॥

दुक्कर-मुद्धोसकरं, अवंतिसुकुमाल-महरिसी-चरियं ।
अप्पा वि नाम तह, तज्जइत्ति अच्छेरयं एयं ॥८८॥

शब्दार्थ : अवंतिसुकुमाल मुनि का चरित्र भी अतिदुष्कर है; जिसके सुनने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस महात्मा ने अपनी आत्मा को भी इतनी तर्जित की थी कि उसका सम्पूर्ण चरित्र सुनने में आश्चर्यकारक है ॥८८॥

उच्छूढ सरीरघरा, अन्नो जीवो सरीरमन्नंति ।
धम्मस्स कारणे सुविहिया, सरीरं पि छड्डंति ॥८९॥

शब्दार्थ : सुविहित पुरुष धर्म के लिए शरीर रूपी घर का मोह छोड़ देते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि 'यह जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है ॥८९॥

एग दिवसंपि जीवो, पवज्जमुवागओ अनन्नमणो ।
जइ वि न पावइ मुक्खं, अवस्स वेमाणिओ होइ ॥९०॥

शब्दार्थ : अनन्यमनस्क होकर यदि कोई व्यक्ति एक दिन भी चारित्र की आराधना करता है तो उसके फलस्वरूप उसे यदि मोक्ष न मिले, तो वैमानिक देवत्व तो अवश्य मिलता है ॥९०॥

सीसावेढेण सिरंमि, वेढिए निग्गयाणि अच्छीणि ।
मेयज्जस्स भगवओ, न य सो मणसा वि परिकुविओ ॥९१॥

शब्दार्थ : जिनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बांधी गयी और धूप लगने से सूखने के कारण आँखें बाहर निकल आयीं; फिर भी मैतार्य भगवान् मन से भी (पीड़ा देने वाले पर) क्रोधित नहीं हुए ॥९१॥

जो चंदणेण बाहुँ, आलिंपइ वासिणा वि तच्छेइ ।
संथुणइ जो अ निंदइ, महरिसिणो तत्थ समभावा ॥९२॥

शब्दार्थ : मुनि की बाहुओं पर कोई चंदन का लेप करे या कोई उसे कुल्हाड़ी से काटे; कोई स्तुति (प्रशंसा) करे और कोई निन्दा करे; परंतु महर्षि सब पर समभावी रहते हैं ॥९२॥

सीहगिरिसुसीसाणं भद्दं, गुरुवयणसद्दहंताणं ।
वयरो किर दाही, वायणत्ति न विकोविअं वयणं ॥९३॥

शब्दार्थ : गुरुवचनों पर श्रद्धा रखने वाले सिंहगिरि आचार्य के सुशिष्यों का कल्याण हो । गुरुमहाराज ने जब अपने शिष्यों से कहा कि 'यह वज्रस्वामी तुम्हें वाचना देगा, तो उन्होंने तर्क–वितर्क करके गुरु के वचनों का लोप नहीं किया' ॥९३॥

मिण गोणसंगुलीहिं, गणेहिं वा दंतचक्कलाइं से ।
इच्छंति भाणिऊणं, कज्जं तु त एव जाणंति ॥९४ ॥

शब्दार्थ : 'अरे शिष्य ! इस सांप को अपनी उंगली से नाप अथवा इसके दांत दंतस्थान से गिन;' इस प्रकार गुरु

द्वारा कहे जाने पर शिष्य तहत्ति (अच्छा गुरुजी !) कहकर उस कार्य को करे। मगर उस पर तर्क-वितर्क न करे। यही सोचे- 'इस कार्य के पीछे क्या मकसद है ? यह तो गुरुदेव ही जानें' ॥९४॥

कारणविऊ कयाई, सेयं कायं वयंति आयरिया ।
तं तह सद्दहियव्वं भवियव्वं, कारणेण तहिं ॥९५॥

शब्दार्थ : कारण को जानने वाले आचार्य भगवान् किसी समय यह कौआ सफेद है, ऐसा कहते हैं तो उसे श्रद्धा पूर्वक मान लेना चाहिए, उस समय यह सोचे कि इसमें भी कोई कारण होगा ॥९५॥

जो गिण्हइ गुरुवयणं, भणंतं भावओ विसुद्धमणो ।
ओसहमिव पीज्जंतं, तं तस्स सुहावहं होइ ॥९६॥

शब्दार्थ : भाव से विशुद्ध मन वाला जो शिष्य गुरु महाराज के द्वारा वचन कहते ही अंगीकार कर लेता है तो उसके लिए वह वचन पालन औषध के समान परिणाम में सुखदायी होता है ॥९६॥

अणुवत्तगा विणीया, बहुक्खमा निच्चभत्तिमंता य ।
गुरुकुलवासी अमुई, धन्ना सीसा इह सुसीला ॥९७॥

शब्दार्थ : गुरु के आज्ञानुवर्ती विनीत, परम क्षमावंत, नित्यभक्तिमात्र, गुरुकुलवासी, गुरु को (एकाकी व कष्ट में)

नहीं छोड़ने वाले और सुशील शिष्य इस संसार में धन्यभागी हैं ॥९७॥

जीवंतस्स इह जसो, कित्ती य मयस्स परभवे धम्मो ।
सगुणस्सय निग्गुणस्स य, अजसो कित्ती अहम्मो य ॥९८॥

शब्दार्थ : गुणवान सुविनीत शिष्य को जीते जी (प्रत्यक्ष) यश और कीर्ति प्राप्त होती है और मरने के बाद अगले जन्म में भी धर्म की प्राप्ति सुखपूर्वक होती है । किन्तु दुर्विनीत शिष्य की इस जन्म में भी अपयश और अपकीर्ति (बदनामी) होती है तथा आगामी जन्म में भी अधर्म यानी नरकादि गति प्राप्त होती है ॥९८॥

वुड्ढावासे वि ठियं, अहव गिलाणं गुरुं परिभवंति ।
दत्तुव्व धम्मवीमंसएणं, दुस्सिक्खियं तं पि ॥९९॥

शब्दार्थ : बुढ़ापे में विहार करने की अशक्ति के कारण या किसी दुःसाध्य रोग के कारण एक जगह स्थित गुरु का जो तिरस्कार करते हैं, वे दत्त नामक शिष्य की तरह अपने धर्म से भ्रष्ट और दुःशिक्षित (दुष्ट शिष्य) हैं ॥९९॥

आयरियभत्तिरागो, कस्स सुनक्खत्तमहरिसिसरिसो ।
अवि जीवियं ववसियं, न चेव गुरुपरिभवो सहिओ ॥१००॥

शब्दार्थ : आचार्य 'गुरु' पर किसका भक्तिराग महर्षि सुनक्षत्र जैसा है, जिसने अपने प्राणों का त्याग कर दिया;

मगर गुरु का पराभव सहन नहीं किया अतः सभी को ऐसा भक्तिराग अपनाना चाहिए ॥१००॥

पुण्णेहिं चोइया पुरक्खडेहिं, सिरिभायणं भविअसत्ता ।
गुरुमागमेसिभद्दा, देवयमिव पज्जुवासंति ॥१०१॥

शब्दार्थ : जो पूर्वकृत पुण्य से प्रेरित होता है, भविष्य में जिस भव्यजीव का शीघ्र कल्याण होने वाला होता है । वह सद्‌गुणों का निधान गुरुमहाराज की इष्टदेव की तरह सेवा करता है ॥१०१॥

बहु सोक्खसयसहस्साण, दायगा मोयगा दुहसहस्साणं ।
आयरिया फुडमेअं, केसि-पएसि य ते हेऊ ॥१०२॥

शब्दार्थ : यह बात स्पष्ट है कि धर्माचार्य अनेक प्रकार से शत-सहस्त्र सुखों को देने वाले और हजारों दुःखों से छुड़ाने वाले होते हैं । इसमें कोई संदेह नहीं । जैसे प्रदेशीराजा के लिए श्री केशीगणधर सुख के हेतु हुए ॥१०२॥

नरयगइगमण-पडिहत्थाए, कए तह पएसिणा रण्णा ।
अमरविमाणं पत्तं, तं आयरियप्पभावेणं ॥१०३॥

शब्दार्थ : नरकगति में गमन करने के लिए उद्यत प्रदेशीराजा को आचार्य (केशीश्रमण) के प्रताप से देव विमान प्राप्त हुआ । सचमुच, आचार्य-(गुरु) सेवा महान् फलदात्री होती है ॥१०३॥

धम्ममइएहिं अइसुंदरेहिं, कारणगुणोवणीएहिं ।
पल्हायंतो य मणं, सीसं चोएइ आयरिओ ॥१०४॥

शब्दार्थ : आचार्य भगवान् अतिसुंदर (निर्दोष) धर्ममय कारणों, (हेतुओं) युक्तियों और दृष्टांतों से शिष्य के मन को आनंदित करते हुए उसे प्रेरणा देते हैं और संयम (धर्म) मार्ग में स्थिर करते हैं ॥१०४॥

जीअं काऊण पणं, तुरमिणिदत्तस्स कालिअज्जेण ।
अवि य सरीरं चत्तं, न य भणियमहम्मसंजुत्तं ॥१०५॥

शब्दार्थ : तुरमणि नगर में कालिकाचार्य से दत्त राजा ने पूछा तो उन्होंने अपने शरीर के त्याग की परवाह न करके भी असत्य अधर्मयुक्त वचन नहीं कहा ॥१०५॥

फुडपागडमकहंतो, जहट्ठिअं बोहिलाभमुवहणइ ।
जह भगवओ विसालो, जर-मरण-महोदही आसि ॥१०६॥

शब्दार्थ : स्पष्टरूप से यथार्थ सत्य नहीं कहने पर साधक आगामी जन्म में बोधिलाभ (धर्मप्राप्ति) का नाश कर देता है । जैसे वैशालिक भगवान् महावीर ने मरीचि के भव में यथास्थित सत्य नहीं कहा, जिसके कारण उनके लिए जरा-जन्मों का महासमुद्र तैयार हो गया । यानी कोटाकोटी सागरोपमकाल तक संसार (जन्म मरण रूप) की वृद्धि हुई ॥१०६॥ श्री महावीर स्वामी के सम्बन्ध में पूर्वजन्मों की वह घटना दे रहे हैं -

कारुण्ण-रुण्ण-सिंगारभाव-भय-जीवियंतकरणेहिं ।
साहू अवि य मरंति, न य नियनियमं विराहिंति ॥१०७॥

शब्दार्थ : करुणाभाव, रुदन, शृंगारभाव, राजा आदि किसी की ओर से भय या जीवन का अंत तक करने वाले अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों (कष्टों) के आ पड़ने पर भी साधु अपने नियमों की कभी विराधना (भंग) नहीं करते ॥१०७॥

अप्पहियमायरंतो, अणुमोअंतो य सुग्गइं लहइ ।
रहकार-दाणअणुमोयगो, मिगो जह य बलदेवो ॥१०८॥

शब्दार्थ : तप, संयम आदि आत्मकल्याण का आचरण करने वाला तथा दानादि धर्म की अनुमोदना करने वाला जीव भी सद्गति प्राप्त करता है । जैसे मुनि को दान देने वाला रथकार, उसकी अनुमोदना करने वाला मृग और तप-संयम का आचरण करने वाला मुनि बलदेव तीनों ने सुगति प्राप्त की ॥१०८॥

जं तं कयं पुरा पूरणेण, अइदुक्करं चिरं कालं ।
जइ तं दयावरो इह, करिंतु तो सफलयं हुँतं ॥१०९॥

शब्दार्थ : पूरण नाम के तापस ने जिसने पहले अतिदुष्कर तप चिरकाल तक किया था, वही तप यदि दयापरायण होकर किया होता तो सफल हो जाता ॥१०९॥

कारण नीयावासे, सुट्ठयरं उज्जमेण जइयव्वं ।
जह ते संगमथेरा, सपाडिहेरा तया आसि ॥११०॥

शब्दार्थ : वृद्धावस्था, रुग्णता, अशक्ति, विकलांगता आदि किसी कारणवश अगर एक ही स्थान पर नित्य रहना पड़े तो चारित्र (संयम) में भलीभांति प्रयत्नशील रहना चाहिए। जैसे उस समय में वृद्धावस्थादि कारणों से आचार्य संगम स्थविर स्थिरवासी होते हुए भी चारित्र में प्रयत्नशील थे; देव भी उनसे प्रभावित होकर उनके सान्निध्य में रहता था ॥११०॥

एगंत नियावासी, घरसरणाईसु जइ ममत्तं पि ।
कह न पडिहंति, कलिकलुस-रोसदोसाण आवाए ॥१११॥

शब्दार्थ : बिना किसी विशेष कारण के एक ही स्थान पर हमेशा जमा रहने वाला साधु मोह-ममता के कारण अगर उस मकान की मरम्मत कराने आदि दुनियादारी के काम कराता है या पैसे इकट्ठ करने-कराने आदि संसार-व्यवहार में पड़ता है तो वह कलह, क्लेश, रोष, राग (मोह) द्वेष आदि दोषों से कैसे बचा रह सकता है ? प्रमादी साधु उक्त दोषों से कदापि बच नहीं सकता ॥१११॥

अवि कत्तिउण जीवे, कत्तो घरसरणगुत्तिसंठप्पं ? ।
अवि कत्तिआ य तं तह, पडिआ असंजयाण पहे ॥११२॥

शब्दार्थ : घर की लिपाई-पोताई या चिनाई तथा रक्षा के लिए दीवार बनाने आदि कार्य जीवों के वध बिना कैसे हो सकते हैं ? इसीलिए जो साधु जीवघातक गृहकार्यादि आरंभों

में सीधे पड़ते हैं, उन्हें असंयममार्ग के पथिक जानना चाहिए ॥११२॥

थोवोऽ वि गिहिपसंगो, जइणो सुद्धस्स पंकमावहइ ।
जह सो वारत्तरिसी, हसिओ पज्जोय-नरवइणा ॥११३॥

शब्दार्थ : शुद्ध मुनि को गृहस्थ के थोड़े-से परिचय (संसर्ग) से पाप रूपी कीचड़ लग जाता है । जैसे वरदत्त मुनि की चण्डप्रद्योत राजा ने हंसी उड़ाई थी कि "अजी नैमित्तिकजी ! आपको वंदन करता हूँ" ॥११३॥ इसीलिए मुनिवर गृहस्थ का जरा भी संसर्ग न करे ।

सब्भावो वीसंभो, नेहो रइवइयरो य जुवइजणे ।
सयणघरसंपसारो, तवसीलवयाइं फेडिज्जा ॥११४॥

शब्दार्थ : युवतियों के सामने सद्भावनापूर्वक अपने हृदय की बात कहना, उन पर अत्यंत विश्वास रखना, उनके प्रति स्नेह (मोहजन्यसंसर्ग) रखना, कामकथा करना और उनके सामने अपने स्वजन सम्बंधियों की, अपने घर आदि की बार-बार बातें करना साधु के तप (उपवासादि), शील (ब्रह्मचर्यादि गुण) तथा महाव्रतों का भंग करती है ॥११४॥

जोइस–निमित्त-अक्खर–कोउआएस-भूइकम्मेहिं ।
करणाणुमो-अणाहि अ, साहुस्स तवक्खओ होइ ॥११५॥

शब्दार्थ : ज्योतिषशास्त्र की बातें बताने, निमित्त-कथन करने, अक्षर (आंक, फीचर, सट्टा या फाटका) बताने से,

कुतूहल पैदा करने वाले चमत्कार (जादू, तमाशा या खेल) बताने, आदेश (तेजी-मंदी या यह बात इसी तरह होगी) करने से या भूतिकर्म करने (राख, वासक्षेप आदि को मंत्रित करके देने) से या इस प्रकार के अनेक पापोपदेशक करने से, दूसरों से करवाने से या करने वाले का समर्थन-अनुमोदन करने से साधु के तप-संयम का क्षय हो जाता है ॥११५॥ इसीलिए मुनि साधुधर्म के विपरीत ऐसे आचरण कदापि न करें ।

जह-जह कीरइ संगो, तह-तह पसरो खणे-खणे होइ ।
थोवो वि होई बहुओ, न य लहइ धिइं निरुंभंतो ॥११६॥

शब्दार्थ : साधु (इस दृष्टि से) ज्यों-ज्यों गृहस्थों का परिचय करता जाता है, त्यों-त्यों उसका फैलाव क्षण-क्षण (दिनोंदिन) बढ़ता जाता है । और एक दिन वह थोड़ा-सा परिचय भी बहुत ज्यादा हो जाता है । फिर गुरु आदि के द्वारा उस साधु को रोक-टोक करने पर भी वह रुकता नहीं, धैर्य धारण नहीं करता ॥११६॥ आखिरकार वह साधु संयम से भ्रष्ट हो जाता है । इसीलिए (अर्थ-काम-दृष्टि से) गृहस्थों का परिचय साधु न करें ।

जो चयइ उत्तरगुणे, मूलगुणे वि अचिरेण सो चयइ ।
जह-जह कुणइ पमायं, पेलिज्जइ तह कसाएहिं ॥११७॥

शब्दार्थ : जो मुनि उत्तर-गुणों को छोड़ता जाता है, वह शीघ्र ही एक दिन मूल-गुणों को तिलांजलि दे देता है ।

साधु संयम पालन में जैसे-जैसे प्रमाद करता है, वैसे-वैसे क्रोधादि कषायों से पीड़ित होता जाता है ॥११७॥

जो निच्छएण गिण्हइ, देहच्चाए वि न य धिइं मुयइ ।
सो साहेइ सकज्जं, जह चंदवडिंसओ राया ॥११८॥

शब्दार्थ : जो महानुभाव व्रत-नियमों को स्वेच्छा से दृढ़ निश्चय पूर्वक ग्रहण करता है और देहत्याग तक का कष्ट आ पड़ने पर भी उनके पालन का धैर्य नहीं छोड़ता (अर्थात् स्वीकृत अभिग्रह-संकल्प-पर डटा रहता है), वह अपना कार्य (मुक्ति रूपी साध्य) सिद्ध कर लेता है । जैसे चन्द्रावतंसक राजा ने प्राणांत कष्ट आ पड़ने पर भी अपना अभिग्रह नहीं छोड़ा ॥११८॥ वैसे ही अन्य साधकों को करना चाहिए ।

सीउण्ह-खुप्पिवासं, दुस्सिज्ज-परिसहं किलेसं च ।
जो सहइ तस्स धम्मो, जो धिइमं सो तवं चरइ ॥११९॥

शब्दार्थ : जो साधु शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, दुःशय्या आदि परिषहों तथा लोच या धर्मपालन के लिए आने वाले कायकष्टों को समभावपूर्वक सहन करता है, वही वास्तव में साधुधर्म की सम्यग् आराधना कर सकता है । क्योंकि जो धैर्यवान होकर ऐसे कष्टों को तुच्छ समझकर उन्हें सह लेता है, वही तपश्चरण करता है । परंतु कायर होकर घबराकर जो ऐसे समय में मैदान छोड़ देता है, प्रमाद करता है, वह अपने तप-संयम के वास्तविक फल से वंचित रहता है ॥११९॥

धम्ममिणं जाणंता, गिहिणो वि दड्ढव्वया किमुअ साहू ? ।
कमलामेलाहरणे, सागरचंदेण इत्थुवमा ॥१२०॥

शब्दार्थ : जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित इस धर्म को जानने वाले गृहस्थ (श्रावक) भी दृढ़व्रती (नियम-व्रतों में पक्के) होते हैं, तो फिर निर्ग्रन्थ साधुओं के दृढ़व्रती होने में कहना ही क्या ? इस विषय में कमलामेला का अपहरण कराने वाले सागरचन्द्र श्रावक का उदाहरण प्रसिद्ध है ॥१२०॥

देवेहिं कामदेवो, गिही वि नवि चाइओ तवगुणेहिं ।
मत्तगयंद-भुयंगम—रक्खसघोरट्टहासेहिं ॥१२१॥

शब्दार्थ : तप के गुण से युक्त कामदेव श्रावक को अपने व्रत-नियम से चलायमान करने के लिए इन्द्र के मुख से प्रशंसा सुनकर अश्रद्धाशील बने हुए देवों ने मदोन्मत्त हाथी, क्रूर सर्प और राक्षसों के भयंकर अट्टहास आदि प्रयोग किये, लेकिन वह गृहस्थ होकर भी जरा भी विचलित न हुआ ॥१२१॥

भोगे अभुंजमाणा वि, केइ मोहा पडंति अहोगइं (अहरगइं) ।
कुविओ आहारत्थी, जत्ताइ-जणस्स दमगुव्व ॥१२२॥

शब्दार्थ : कई जीव सांसारिक इन्द्रियजन्य विषयों का उपभोग नहीं कर पाते; लेकिन मूढ़तावश दुश्चिन्तन करके अधोगति में जाकर गिरते हैं । जैसे यात्रा के लिए वन में आये हुए पौरजनों ने जब आहारार्थी द्रमक (भिक्षुक) को

भोजन नहीं दिया तो उन पर कोपायमान होकर अपना पतन कर लिया था ॥१२२॥

भवसयसहस्स दुलहे, जाइ-जरा-मरणसागरुत्तारे ।
जिणवयणंमि गुणायर ! खणमवि मा काहिसि पमायं ।१२३।

शब्दार्थ : गुणनिधे ! लाखों जन्मों में भी अतिदुर्लभ और जन्म, मृत्यु और बुढ़ापे के दुःख-समुद्र से पार उतारने वाले जिनवचन को पाकर क्षणभर भी प्रमाद न कर ॥१२३॥ विषय, कषाय और विकथादि प्रपंचों को छोड़कर एकमात्र वीतराग के सिद्धान्त की आराधना में लग जा ।

जं न लहइ, सम्मत्तं, लद्धूण वि जं न एइ संवेगं ।
विसयसुहेसु य रज्जइ, सो दोसो रागदोसाणं ॥१२४॥

शब्दार्थ : जो जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता अथवा सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर जिसमें संवेग (मोक्ष प्राप्ति की तीव्रता) नहीं आया; जो अभी तक विषयसुखों में ही रक्त रहता है, तो समझो कि उसके राग-द्वेषों का ही वह दोष है ॥१२४॥ वास्तव में समस्त दोषों के कारण राग और द्वेष हैं । इनका त्याग करने पर ही साधक में सम्यग्दृष्टि सुदृढ़ होती है, संविग्नता (मोक्ष प्राप्ति के लिए तड़पन) पैदा होती है ॥१२४॥

तो बहुगुणनासाणं, सम्मत्तचरित्तगुणविणासाणं ।
न हु वसमागंतव्वं, रागदोसाण पावाणं ॥१२५॥

शब्दार्थ : इसीलिए बहुत-से सद्‌गुणों को नाश करने वाले और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र आदि गुणों के विघातक राग-द्वेष रूपी पापों के वशीभूत नहीं होना चाहिए ॥१२५॥

न वि कुणइ अमित्तो, सुड्डवि सुविराहिओ समत्थो वि ।
जं दो वि अणिग्गहिया, करंति रागो य दोसो य ॥१२६॥

शब्दार्थ : जितना अनर्थ वश में (निग्रह) नहीं किये हुए राग और द्वेष करते हैं, उतना अच्छी तरह विरोध करने में समर्थ शत्रु भी नहीं करता ॥१२६॥

इह लोए आयासं, अजसं च करेंति गुणविणासं च ।
पसवंति अ परलोए, सारीरमणोगए दुक्खे ॥१२७॥

शब्दार्थ : राग और द्वेष से इस लोक में शारीरिक और मानसिक खेद होता है; वे जगत् में अपयश (बदनामी) कराते हैं और ज्ञानदर्शन-चारित्र आदि सद्‌गुणों का विनाश करते हैं; तथा परलोक में भी नरकगति और तिर्यंचगति के कारण होने से दोनों शारीरिक और मानसिक दुःखों को पैदा करते हैं ॥१२७॥

धिद्धि अहो अकज्जं, जं जाणंतो वि रागदोसेहिं ।
फलमउलं कडुअरसं, तं चेव निसेवए जीवो ॥१२८॥

शब्दार्थ : आश्चर्य है कि राग-द्वेष के कारण जो अकार्य (अनिष्ट) होते हैं उन्हें; तथा उनके अत्यंत कड़वे रस

(परिणाम) वाले फल को जानता हुआ भी जीव उसी का अमृतरस की बुद्धि से बार-बार सेवन करता है। धिक्कार है ऐसे संसारासक्त जीवों को ! ॥१२८॥

को दुक्खं पाविज्जा ?,
कस्स व सुक्खेहिं विम्हिओ हुज्जा ? ।
को न वि लभिज्ज मुक्खं,
रागदोसा जइ न हुज्जा ॥१२९॥

शब्दार्थ : यदि जगत् में राग-द्वेष न होते तो कौन दुःख प्राप्त करता; कौन सुख को देखकर विस्मित (चकित) होता और अक्षय अव्याबाध मोक्ष-सुख से कौन वंचित रहता ? ॥१२९॥ अर्थात्-कोई भी दुःख भोगने के लिए यहाँ न रहता, सभी जीव मोक्ष में चले जाते ।

माणी गुरु-पडिणीओ, अणत्थभरिओ अमग्गचारी य ।
मोहं किलेसजालं, सो खाइ जहेव गोसालो ॥१३०॥

शब्दार्थ : जो शिष्य अभिमानी है, गुरु के विरुद्ध चलता है, अपने अशुद्ध स्वभाव के कारण अनर्थों से भरा हुआ है और संयममार्ग के विपरीत चलता है, उसका तप-संयमादि कष्टसहन व्यर्थ हो जाता है, जैसे गोशालक का हुआ था ॥१३०॥

कलहण-कोहणसीलो, भंडणसीलो विवायसीलो य ।
जीवो निच्चुज्जलिओ, निरत्थयं संजमं चरइ ॥१३१॥

शब्दार्थ : जो साधक सदा कलह और क्रोध करता रहता है, हमेशा अपशब्द बोलता रहता है तथा विवाद (व्यर्थ का झगड़ा) करता रहता है; वह हमेशा (कषायाग्नि में) जलता रहता है । ऐसे व्यक्ति का संयमाचरण निरर्थक है ॥१३१॥

जह वणदवो वणं, दवदवस्स जलिओ खणेण निद्दहइ ।
एवं कसायपरिणओ, जीवो तवसंजमं दहइ ॥१३२॥

शब्दार्थ : जैसे शीघ्र जलने वाला वनदव (दावानल-जंगल में लगी हुई आग) क्षणभर में सारे वन को जलाकर खाक कर देता है, वैसे ही क्रोधादि कषाय से युक्त साधु भी तप संयम की अपनी करणी को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है ॥१३२॥

परिणामवसेण पुणो, अहिओ ऊणयरओ व हुज्ज खओ ।
तह वि ववहारमित्तेण, भण्णइ इमं जहा थूलं ॥१३३॥

शब्दार्थ : परिणामों की तरतमता (न्यूनाधिकता) के अनुसार चारित्र का न्यूनाधिक (कमोवेश) क्षय होता है । तथापि यह क्षय व्यवहारमात्र से कहा जाता है कि स्थूलरूप (मोटे तौर) से इतना क्षय हुआ है ॥१३३॥

फरुसवयणेण दिणतवं, अहिक्खिवंतो हणइ मासतवं ।
वरिसतवं सवमाणो, हणइ हणंतो य सामण्णं ॥१३४॥

शब्दार्थ : 'किसी को कठोर वचन कहने पर व्यक्ति एक दिन के तप का नाश (संयम पुण्य का क्षय) कर देता है,

अत्यंत क्रोधपूर्वक किसी के जाति, कुल आदि की भर्त्सना करने या किसी के मर्म को प्रकट करके उसे झिड़कने या निन्दा करने से एक महीने के तप का क्षय कर देता है, किसी को शाप देने या किसी को विनाशकारी शब्द कहने से एक वर्ष का तप नष्टकर देता है और किसी को डंडा, तलवार, लट्ठी या किसी भी शस्त्र से मारने-पीटने या वध कर देने से जीवनपर्यंत के आचरित श्रमणत्व का ही खात्मा कर देता है। यह कथन भी व्यवहारनय की अपेक्षा से किया गया है' ॥१३४॥

अह जीवियं निकिंतइ, हंतूण य संजमं मलं चिणइ ।
जीवो पमायबहुलो, परिभमइ जेण संसारे ॥१३५॥

शब्दार्थ : संसार की मोहमाया में फंसा हुआ साधक अत्यंत प्रमादवश अपने संयमी जीवन को अपने ही हाथों नष्ट कर डालता है। और संयम का नाश करके फिर पापरूपी मल की वृद्धि करता रहता है। ऐसा प्रमाद बहुल जीव फिर संसार में जन्म मरण के चक्कर काटता रहता है ॥१३५॥

अक्कोसण-तज्जण-ताडणाओ, अवमाण-हीलणाओ अ ।
मुणिणो मुणियपरभवा, दढप्पहारि व्व विसहंति ॥१३६॥

शब्दार्थ : जिन मनुष्यों ने परभवों (अन्य जन्मों) का स्वरूप भलीभांति जान लिया है वे दृढ़प्रहारी मुनि की तरह अज्ञ जनों द्वारा दिये गये शाप, दुर्वचन या किये गये डांट-

फटकार, मारपीट, अपमान, अवहेलना, निन्दा आदि प्रहारों को समभाव से सह लेते हैं ॥१३६॥

अहमाहओ त्ति न य पडिहणंति, सत्ताऽवि न य पडिसवंति ।
मारिज्जंताऽवि जई, सहंति सहस्समल्लु व्व ॥१३७॥

शब्दार्थ : इस व्यक्ति ने मुझे मारा-पीटा है, ऐसा जानते हुए भी सुविहित साधु उसे मारते-पीटते नहीं, किसी ने उन्हें शाप दिया है, तो भी वे बदले में उसे शाप नहीं देते । बल्कि किसी के द्वारा मारने पीटने पर भी वे समभाव से उसे सहते हैं । जैसे सहस्रमल्ल मुनि ने प्रहार आदि सहन किये थे, वैसे ही अन्य साधकों को सहने चाहिए ॥१३७॥

दुज्जणमुहकोदंडा, वयणसरा पुव्वकम्मनिम्माया ।
साहूण ते न लग्गा, खंतिफलयं वहंताणं ॥१३८॥

शब्दार्थ : दुर्जनों के मुख रूपी धनुष से दुर्वचन रूपी बाण छूटते हैं, लेकिन अपने आगे क्षमा रूपी ढाल रखने वाले साधुओं को पूर्व कर्मों के द्वारा निर्मित हुए वे दुर्वचन भी नहीं लगते ॥१३८॥

पत्थरेणाहओ कीवो, पत्थरं डक्कुमिच्छइ ।
मिगारि सरं पप्प, सरुप्पत्तिं विमग्गइ ॥१३९॥

शब्दार्थ : कुत्ते को पत्थर मारने पर वह पत्थर मारने वाले को नहीं, किन्तु पत्थर को काटने दौड़ेगा और सिंह को

बाण मारे जाने पर वह बाण को पकड़ने नहीं दौड़ता, अपितु बाण कहाँ से आया ? किसने मारा ? इसकी खोज करके बाण मारने वाले को पकड़ेगा ॥१३९॥

तह पुव्विं न कयं, न बाहए जेण मे समत्थोऽवि ।
इण्हिं किं कस्स व, कुप्पिमुत्ति धीरा अणुप्पिच्छा ॥१४०॥

शब्दार्थ : धीरपुरुष दुःख के समय इस प्रकार चिन्तन करे के 'हे आत्मन् ! तूने पूर्वजन्म में ऐसा सुकृत नहीं किया, जिससे तुझे समर्थ से समर्थ पुरुष भी बाधित पराभूत न कर सके । यदि तूने शुभ कर्म किया होता तो कौन तुझे पराभूत कर सकता ! अब किसी पर व्यर्थ ही क्यों कोप करता है ? क्योंकि तेरे पूर्वोपार्जित अशुभकर्म ही ऐसे हैं, जिनके उदय होने से दूसरे पर क्रोध करना व्यर्थ है ! ऐसा विचार करके धैर्यशाली ज्ञानी पुरुष क्रोध न करके समभाव ही रखते हैं ॥१४०॥

अणुराएण जइस्सऽवि, सियायपत्तं पिया धरावेइ ।
तहवि य खंदकुमारो, न बंधुपासेहिं पडिबद्धो ॥१४१॥

शब्दार्थ : 'स्कन्दककुमार मुनि पर अनुराग के कारण उसके पिता अपने पुत्र पर सेवकों द्वारा श्वेतछत्र कराते थे । परंतु वे मुनि बंधुवर्ग के स्नेहपाश में नहीं फंसे ।' ॥१४१॥

गुरु-गुरुतरोय अइगुरु, पिय-माइ-अवच्च-हियजणसिणेहो ।
चिंतिज्जमाण गुविलो, चत्तो अइधम्मतिसिएहिं ॥१४२॥

शब्दार्थ : माता, पिता, पुत्र आदि प्रियजनों पर क्रमशः अधिक, अधिकतर और अधिकतम स्नेह बढ़ता जाता है । अत्यंत धर्मपिपासु साधकों ने इस स्नेह को अनंत जन्मों का कारण जानकर धर्म के शत्रु रूप इस स्नेह का त्याग किया है । इसीलिए धर्माभिलाषी साधक प्रियजन आदि के स्नेह (आसक्ति) में न पड़कर धर्म की आराधना करें ॥१४२॥

अमुणियपरमत्थाणं, बंधुजणसिणेहवइयरो होइ ।
अवगयसंसारसहावनिच्छयाणं समं हिययं ॥१४३॥

शब्दार्थ : जिन्होंने परमार्थ का स्वरूप नहीं जाना, उन्हें ही अपने गृहस्थपक्ष के भाई-बन्धु और कुटुम्ब-कबीले पर अत्यधिक स्नेहराग (आसक्ति) होता है । जिन्होंने निश्चयपूर्वक संसार के स्वभाव को जान लिया है, उनका हृदय सब पर सम रहता है ॥१४३॥

माया पिया य भाया, भज्जा पुत्ता सुही य नियगा य ।
इह चेव बहुविहाइं, करंति भय-वेमणस्साइं ॥१४४॥

शब्दार्थ : माता, पिता, भ्राता, भार्या, पुत्र, मित्र और स्वजन ये सब इस संसार में प्रसंगवश अनेक प्रकार के भय (मरणांत डर) और वैमनस्य (मन मुटाव) पैदा कर देते हैं ॥१४४॥

माया नियगमइविगप्पियंमि, अत्थे अपूरमाणंमि ।
पुत्तस्स कुणइ वसणं, चुलणी जह बंभदत्तस्स ॥१४५॥

शब्दार्थ : माता भी अपने दिमाग में सोची हुई बात पूरी न होने पर अपने पुत्र को तकलीफ देती है; जैसे चूलनी रानी ने ब्रह्मदत्त को अनेक कष्ट दिये थे ॥१४५॥

सव्वंगोवंगविगत्तणाओ, जगडणविहेडणाओ य ।
कासी य रज्जतिसिओ, पुत्ताण पिया कणयकेऊ ॥१४६॥

शब्दार्थ : राज्य के लोभ में अंधा बना हुआ पिता कनककेतु अपने पुत्रों के सभी अंगोपांगों का विविध प्रकार से छेदन करवा डालता था । ताकि वह राज्याभिषेक के योग्य न रहे । अतः पिता का पुत्रों के साथ संबंध भी कृत्रिम और स्वार्थपूर्ण है ॥१४६॥

विसयसुहरागवसओ, घोरो भायाऽवि भायरं हणइ ।
ओहाविओ वहत्थं, जह बाहुबलिस्स भरहवई ॥१४७॥

शब्दार्थ : 'विषयसुख के राग (आसक्ति) वश भयंकर शस्त्रादि से भाई भी अपने भाई को मार डालता है । जैसे भरतचक्रवर्ती अपने भाई बाहुबलि को मारने के लिए दौड़ा था; वैसे ही तुच्छ स्वार्थवश भाई भी अपने भाई को मारने दौड़ता है । अतः धिक्कार है ऐसे स्वार्थ को !' ॥१४७॥

भज्जाऽवि इंदियविगार-दोसनडिया, करेइ पइपावं ।
जह सो पएसिराया, सूरियकंताइ तह वहिओ ॥१४८॥

शब्दार्थ : 'इन्द्रियों के विकार दोष से बाधित पत्नी भी अपने पति के प्राणहरण कर लेती है। जैसे प्रदेशी राजा को उसकी पत्नी सूरिकान्ता रानी ने विष देकर मार डाला था ॥१४८॥

सासयसुक्खतरस्सी, नियअंगस्समुब्भवेण पियपुत्तो ।
जह सो सेणियराया, कोणियरण्णा खयं नीओ ॥१४९॥

शब्दार्थ : शाश्वत सुख प्राप्त करने का अभिलाषी, भगवन् के वचनों में अनुरक्त और क्षायिकसम्यक्त्वी श्रेणिकराजा अपने ही अंगज और प्रियपुत्र कोणिक राजा द्वारा मार डाला गया था। अतः पुत्र स्नेह भी व्यर्थ है ॥१४९॥

लुद्धा सकज्जतुरिआ, सुहिणो वि विसंवयंति कयकज्जा ।
जह चंदगुत्तगुरुणा, पव्वयओ घाइओ राया ॥१५०॥

शब्दार्थ : जो व्यक्ति राज्य आदि में लुब्ध होते हैं, वे अपना कार्य सिद्ध करने में उतावले होते हैं; परंतु अपना काम बन जाने के बाद अपने मित्रों के खिलाफ बोलने लगते हैं; मित्रों के साथ वे द्रोह करने लगते हैं। जैसे चन्द्रगुप्त राजा के गुरु चाणक्यमंत्री ने पर्वत राजा से विश्वासघात किया ॥१५०॥

नियया ऽवि निययकज्जे, विसंवयंतंमि हुंति खरफरुसा ।
जह राम-सुभूमकओ, बंभक्खत्तस्स आसि खओ ॥१५१॥

शब्दार्थ : स्वजनसंबंधी भी अपना काम बन जाने के बाद क्रूर और कठोर वचन बोलने वाले बन जाते हैं। जैसे

परशुराम और सुभूम ने क्रमशः अपने ही स्वगोत्रीय ब्राह्मणों और क्षत्रियों का नाश किया था ॥१५१॥

कुल-घर-नियय-सुहेसुअ,
सयणे य जणे य निच्च मुणिवसहा ।
विहरंति अणिस्साए,
जह अज्जमहागिरी भयवं ॥१५२॥

शब्दार्थ : मुनियों में श्रेष्ठ धर्मधुरंधर मुनि अपने कुल, घर, स्वजन, संबंधी और सामान्यजनों का आश्रय लिये बिना सदा विचरण करते हैं । जैसे (जिनकल्प का विच्छेद हो जाने पर भी) आर्य महागिरि भगवान् आर्य सुहस्ति को अपना साधुकुल सौंपकर स्वयं जिनकल्पी साधु के समान विचरण करने लगे । इसी प्रकार अन्य साधुओं को भी विचरण करना चाहिए ॥१५२॥

रुवेण जुव्वणेण य कन्नाहि सुहेहिं, वरसिरीए य ।
न य लुब्भंति सुविहिया, निदरिसणं जंबुनामुति ॥१५३॥

शब्दार्थ : जो सुविहत सादु होते हैं, वे रूप और यौवन से संपन्न कन्याओं में, सांसारिक सुखों में तथा पर्याप्त संपत्ति प्राप्त होने पर भी उसमें लुब्ध नहीं होते । इस विषय में जम्बूकुमार उत्तम नमूने हैं ॥१५३॥

उत्तमकुलप्पसूया, रायकुलवडिंसगा वि मुणिवसहा ।
बहुजणजइसंघट्टं, मेहकुमारु व्व विसहंति ॥१५४॥

शब्दार्थ : उत्तमकुल में उत्पन्न, राजकुल के भूषण और मुनियों में श्रेष्ठ श्री मेघकुमार मुनि बहुत-से अन्य मुनियों के पैरों की ठोकर आदि से होने वाला कठोर स्पर्श सहन करते हैं। इसी तरह अन्य मुनियों को भी सहन करना चाहिए ॥१५४॥

अवरुप्परसंबाह, सुक्खं, तुच्छं सरीरपीडा य ।
सारण-वारण-चोयण-, गुरुजणआयत्तया य गणे ॥१५५॥

शब्दार्थ : गण (गच्छ) में रहने से मुनियों के परस्पर संघर्ष, विषयसुखों की तुच्छता, बड़ों के लिए शरीर को पीड़ा (सेवादि का कष्ट), गुरुजनों की अधीनता, उनके द्वारा की गयी सारणा, वारणा, चोयणा, पड़िचोयणा वगैरह सहने पड़ते हैं ॥१५५॥

इक्कस्स कओ धम्मो, सच्छंदगईमईपयारस्स ? ।
किं वा करेइ इक्को ?, परिहरउ कहं अकज्जं वा ? ॥१५६॥

शब्दार्थ : गुरुकुलवास (गण) को छोड़कर स्वच्छन्दगति, मति और प्रचार वाले अकेले साधु का संयमधर्म कैसे निभ सकता है ? वह अकेला मुनिधर्म की आराधना कैसे करेगा ? अकार्य करते हुए उसे कौन रोकेगा ? ॥१५६॥ मतलब यह है कि निरंकुशता से (बिना बड़ों की आज्ञा के) अकेले साधु में संयमधर्म की यथार्थ आराधना होनी कठिन है। इसीलिए गुरुकुलवास में रहना चाहिए।

कत्तो सुत्तत्थागम-पडिपुच्छणचोयणा, व इक्कस्स ? ।
विणओ वेयावच्चं, आराहणा य मरणंते ? ॥१५७॥

शब्दार्थ : अकेले मुनि को सूत्रों (शास्त्रों) का अर्थ (वाचना), प्रतिपृच्छा, चोयणा (प्रेरणा) आदि कौन देगा ? विनय या वैयावृत्य का लाभ उसे कैसे मिलेगा ? अंतिम समय में मारणांतिक संल्लेखना-संथारा की आराधना कौन करायेगा ? ॥१५७॥

पिल्लिज्जेसणमिक्को, पइन्नपमयाजणाउ निच्चभयं ।
काउमणो वि अकज्जं, न तरइ काऊण बहुमज्झे ॥१५८॥

शब्दार्थ : निरंकुश एकाकी साधु आहार-पानी आदि की गवेषणा करने में (लज्जावश) पीड़ा पाता है; हमेशा अंगनाओं से धिरे जाने का भय बना रहता है। गुरुकुल-वास में रहने से साधु मन से भी अकार्य नहीं कर सकता, शरीर से उसमें प्रवृत्त होना तो बहुत ही दूर है। गुरुकुलवास में रहने से बहुत लाभ हैं। इसीलिए स्थविरकल्पी मुनियों को निरंकुश होकर एकाकी विहार करना उचित नहीं है ॥१५८॥

उच्चार-पासवण-वंत-पित्त-मुच्छाइ, मोहिओ इक्को ।
सद्दवभाणविहत्थो, निक्खिवइ व कुणइ उड्डाहं ॥१५९॥

शब्दार्थ : टट्टी, पेशाब, उलटी, पित्त और मूर्च्छा (बेहोशी), वायुविकार, विसूचिका (पेचिश) आदि बिमारियों के प्रकोप के समय अकेला साधु मार्ग में चलता-चलता कांपते हुए

हाथ आदि से जल से भरे पात्र को नीचे रख देता है तो इससे संयम की विराधना आत्मा विराधना-होती है और यदि हाथ से पात्र रखकर बड़ी नीति आदि करता है तो जिन शासन की बदनामी होती है । इसीलिए बिना कारण के स्वच्छन्दता पूर्वक अकेला रहना किसी तरह भी ठीक नहीं है ॥१५९॥

एकदिवसेण बहुया, सुहा य, असुहा य जीव परिणामा ।
इक्को असुहपरिणओ, चइज्ज आलंबणं लद्धुं ॥१६०॥

शब्दार्थ : एक ही दिन में जीव के कई बार शुभ या अशुभ परिणाम होते हैं । साधु एकाकी होने पर कदाचित् अशुभ परिणाण आ जाय तो किसी भी झूठे आलंबन-निमित्त को लेकर चारित्र को छोड़ देगा या अनेक दोष लगायेगा उस समय उसे कौन शुद्ध (सही) रास्ता बतायेगा ? ॥१६०॥

सव्वजिणप्पडिकुट्ठं, अणवत्था थेरकप्पभेओ य ।
एक्को य सुआउत्तो वि, हणइ तवसंजमं अइरा ॥१६१॥

शब्दार्थ : ऐसे अनेक कारणों से सभी जिनवरों ने एकाकी रहने का निषेध किया है । साथ ही एक के एकाकी रहने पर दूसरे अनेक मुनि भी उसकी देखादेखी एकाकी रहने लगते हैं । स्थविरकल्प का जो आचार है, उसमें इस प्रकार की विभिन्नता देखकर लोगों को इसमें शंका व अश्रद्धा पैदा होती है । एकाकी साधु अगर अप्रमत्त रूप से

साध्वाचार का पालन करता हो, फिर भी किसी अशुभ निमित्त के मिलने पर वह जल्दी ही तप-संयम का घात कर देता है; यानी उसमें दोष लगाता है। इसीलिए एकाकी रहना अयुक्त है ॥१६१॥

वेसं जुण्णकुमारीं, पउत्थवइयं च बालविहवं च ।
पासंडरोहमसइं, नवतरुणीं थेरभज्जं च ॥१६२॥

सविडंकुब्भडरुवा, दिट्ठा मोहेइ जा मणं इत्थी ।
आयहियं चितंता, दूरयरेणं तं परिहरंति ॥१६३॥

शब्दार्थ : वेश्या, बड़ी उम्र की (प्रौढ़) कन्या, जिसका पति परदेश गया हुआ है, ऐसी महिला, बालविधवा, परिव्राजिका, कुलटा, नवयुवती, जिसका पति बूढा हो ऐसी अंगना, उद्भट रूपवती (छैलछबीली), अनिन्द्य-सुंदरी और विकार रहित मनोहर रूप वाली तथा देखने मात्र से ही जो मन को मोहित कर देती हो; आत्महित का विचार करने वाले साधु ऐसी सभी प्रकार की स्त्रियों के संसर्ग से अत्यंत दूर रहते हैं ॥१६२-१६३॥

सम्मद्दिट्ठी वि कयागमो वि, अइविसयरागसुहवसओ ।
भवसंकडंमि पविसइ, एत्थं तुह सच्चई नायं ॥१६४॥

शब्दार्थ : 'सम्यग्दृष्टि और सिद्धांत को जानने वाला भी अत्यंत विषयसुख के राग के वश होकर भ्रवभ्रमण करता है।

उस संबंध में हे शिष्य ! तुम्हें सत्यकि का उदाहरण जानना चाहिए ॥१६४॥' यहाँ सत्यकि विद्याधर की कथा कहते हैं –

सुतवस्सिया ण पूया, पणाम–सक्कार–विणय–कज्जपरो ।
बद्धं पि कम्ममसुहं, सिढिलेइ दसारनेया व ॥१६५॥

शब्दार्थ : 'निर्मल तप–संयम की आराधना करने वाले महामुनियों का वस्त्रादि देकर उनका आदर करना, मस्तक से उन्हें नमस्कार–वंदन करना, उनके गुणों की प्रशंसा करके उनका सत्कार करना, मुनि आवें तो खड़े होकर विनय करना इत्यादि कार्यों में तत्पर रहने वाला पुरुष कृष्ण वासुदेव के समान आत्मप्रदेश के साथ लगे हुए पूर्वकृत अशुभ कर्मों को शिथिल कर देता है ॥१६५ ॥' यहाँ दश दशार्हों के नेता श्रीकृष्णजी का चरित्र संक्षेप में दे रहे हैं –

अभिगमण–वंदण–नमं–सणेण, पडिपुच्छणेण साहूणं ।
चिरसंचियं पि कम्मं, खणेण विरलत्तणमुवेइ ॥१६६॥

शब्दार्थ : साधु–मुनिराजों के सम्मुख स्वागत के लिए जाने से, उनको वंदन–नमस्कार करने से और उन्हें सुखसाता पूछने से चिर संचित कर्मदल भी क्षणमात्र में क्षय हो जाते हैं । इसीलिए सुसाधु को सद्भाव से नमस्कारादि करना चाहिए ॥१६६॥

केइ सुसीलासुहमाइ, सज्जणा गुरुजणस्स वि सुसीसा ।
विउलं जणंति सद्धं, जह सीसो चंडरुद्दस्स ॥१६७॥

शब्दार्थ : सुशील, अत्यंत धर्मात्मा और सज्जन सुशिष्य अपने गुरु महाराज के प्रति अपनी श्रद्धा रखते हैं; जैसे चंडरुद्र–आचार्य के नये शिष्य ने श्रद्धा दृढ़ की थी ॥१६७॥

अंगारजीववहगो, कोइ कुगुरु सुसीसपरिवारो ।
सुमिणे जईहिं दिट्ठो, कोलो गयकलहपरिकिन्नो ॥१६८॥

शब्दार्थ : कोयले की कंकरी में जीव मानकर हिंसा करने वाले किसी कुगुरु के सुशिष्यों ने दूसरे आचार्य के मुनियों को स्वप्न में एक डुक्कर को गजकलभों से सेवित देखा । उस आचार्य के कहने से वह पहचाना गया । और उसे छोड़ दिया ॥१६८॥

सो उग्गभवसमुद्दे, सयंवरमुवागएहिं राएहिं ।
करहो वक्खरभरिओ, दिट्ठो पोराण सीसेहिं ॥१६९॥

शब्दार्थ : 'उस कुगुरु ने उग्र संसारसमुद्र में परिभ्रमण करते हुए ऊँट के रूप में जन्म लिया । उसे पूर्वजन्म के शिष्यों ने, जो अगले जन्म में राजपुत्र बने थे, स्वयंवर में आये थे, ऊँट के रूप में अपने पूर्वजन्म के गुरु को देखकर करुणा लाकर उसे दुःख से मुक्त किया ।' ॥१६९॥

संसारवंचणा न वि, गणंति संसार–सूयरा जीवा ।
सुमिणगएण वि केई, बुज्झंति पुप्फचूलाव्व ॥१७०॥

शब्दार्थ : पुद्‌गलानन्दी, भवाभिनन्दी और संसार में अत्यंत आसक्त जीव सूअर के समान संसार में होने वाली विविध

विडंबनाओं को नहीं समझते । क्योंकि विषयासक्त जीव विषय को ही सारभूत गिनते हैं । परंतु लघुकर्मी जीव सिर्फ स्वप्न को देखने मात्र से अनायास ही प्रतिबुद्ध हो जाते हैं; जैसे पुष्पचूला को अनायास प्रतिबोध हुआ था । पुष्पचूला नाम की रानी ने स्वर्ग और नरक का स्वरूप स्वप्न में देखकर ही विषयसुख से विरक्त होकर संयम अंगीकार किया था ।।१७०।। ऐसे भी बहुत से जीव होते हैं । यहाँ पुष्पचूला की कथा दे रहे हैं –

जो अविकलं तवं संजमं च, साहु करिज्ज पच्छा वि ।
अन्नियसुओ व्व सो, नियगमट्ठमचिरेण साहेइ ।।१७१।।

शब्दार्थ : 'जो वृद्धावस्था में भी प्रतिबोध प्राप्त करके अखंड तप–संयम की साधना करता है, वह आचार्य अर्णिकापुत्र की तरह अपनी अक्षयसुख की साधना का अर्थ शीघ्र ही अल्पकाल में सिद्ध कर लेता है' ।।१७१।। अर्थात् – जो यौवनावस्था में विषयासक्त हो, किन्तु जिंदगी के अंतिम समय में धर्माचरण कर लेता है, वह अपने आत्महित को सिद्ध कर सकता है । यहाँ ऊपर की कथा में वर्णित अर्णिकापुत्र का बाकी रहा हुआ पूर्वजीवन का चरित्र–चित्रण कर रहे हैं –

सुहिओ न चयइ भोए, चयइ जहा दुक्खिओत्ति अलियमिणं ।
चिक्कणकम्मोवलित्तो, न इमो न इमो परिच्चयई ।।१७२।।

शब्दार्थ : लोग कहते हैं कि जैसे दुःखी मनुष्य विषयभोग आदि का त्याग कर देता है, वैसे सुखी मनुष्य उसका सहसा त्याग नहीं कर सकता; यह बात असत्य है । यह एकांत नियम नहीं है । चिकने कर्मों से उपलिप्त व्यक्ति चाहे सुखी हो अथवा दुःखी; वह भोग को नहीं छोड़ सकता ॥१७२॥ 'भोगों को छोड़ना सुखी या दुःखी मनुष्य के बस की बात नहीं है ।' परंतु जो लघुकर्मी हो, वही विषय भोग आदि का त्याग कर सकता है ॥१७२॥

जह चयइ चक्कवट्टी, पवित्थरं तत्तियं मुहुत्तेण ।
न चयइ तहा अहन्नो, दुब्बुद्धी खप्परं दमओ ॥१७३॥

शब्दार्थ : जैसे लघुकर्मी चक्रवर्ती क्षणमात्र में षट्खंड की राज्यलक्ष्मी को छोड़ देता है, वैसे अपुण्यशाली दुर्बुद्धि निर्धन भिखारी गाढ़ कर्मों से लिप्त होने के कारण भीख मांगने का अपना एक खप्पर भी नहीं छोड़ सकता ॥१७३॥

देहो पिवीलियाहिं, चिलाइपुत्तस्स चालणी व्व कओ ।
तणुओ वि मणपओसो, न चालिओ तेण ताणुवरिं ॥१७४॥

शब्दार्थ : चींटियों ने चिलातीपुत्र का शरीर चालनी की तरह छिद्रों वाला बना दिया । फिर भी उन्होंने मन से जरा भी उन पर द्वेष नहीं किया और न अपने शुभध्यान से चलित हुए । ढाई दिन तक अखंड ध्यान रखकर वे मुनि स्वर्ग में पहुँचे ॥१७४॥ इसकी कथा ३८ वीं गाथा में आ चुकी है ।

पाणच्चए वि पावं, पिवीलियाए वि जे न इच्छंति ।
ते ह जई अपावा, पावाइं करेंति अन्नस्स ? ॥१७५॥

शब्दार्थ : जो मुनि प्राणांत कष्ट देने वाली चींटियों पर क्रोधवधादि पाप करने की इच्छा नहीं करते, वे निष्पाप मुनि अन्य मनुष्यों के प्रति पापकर्म का आचरण करेंगे ही कैसे ? अर्थात् - वे दूसरों पर प्रतिकूल आचरण सर्वथा नहीं करते ॥१७५॥

जिणपह-अपंडियाणं, पाणहराणं पि पहरमाणाणं ।
न करंति य पावाइं, पावस्स फलं वियाणंता ॥१७६॥

शब्दार्थ : मुनि पाप का फल नरकादिक है, ऐसा भलीभांति जानते हैं, इसीलिए जिनमार्ग से अनभिज्ञ, अधर्म, अज्ञानी, अविवेकी, पापी और परितापकारी लोग जो तलवार आदि से प्रहार करके प्राणों का हरण करते हैं, उनके प्रति भी द्वेष, रोष, वधादि पापकर्म वे नहीं करते । अर्थात् उनके मारने का चिन्तनरूप पापकर्म भी वे नहीं करते, और न उनका द्रोह या अहित ही करते हैं ॥१७६॥

वह-मारण-अब्भक्खाण-दाणपरधणविलोवणाईणं ।
सव्वजहन्नो उदओ, दसगुणिओ इक्कसि कयाणं ॥१७७॥

शब्दार्थ : एक बार किये हुए वध, लकड़ी आदि से किये गये प्रहार, प्राण के नाश करने, मिथ्या कलंक देने, दूसरे के धन का हरण करने या चोरी करने, किसी को

मर्मस्पर्शी शब्द बोलने, गुप्त बात प्रकट करने वगैरह इन पापकर्मों का जघन्य (कम से कम) उदय हो तो दसगुना फल मिलता है । अर्थात् एक बार जीव को मारने आदि से वह जीव उसे दस बार मारने आदि वाला होता है । मतलब है कि इन गुनाहों में से किसी भी गुनाह का सामान्य प्रतिफल दसगुना मिलता है ॥१७७॥

तिव्वयरे उ पआसे, सयगुणिओ सयसहस्सकोडिगुणो ।
कोडाकोडिगुणो वा, हुज्ज विवागो बहुतरो वा ॥१७८॥

शब्दार्थ : परंतु ऊपर बताये गये पाप तीव्रतर द्वेष से (अतिक्रोध आदिवश) किये जायें तो सौ गुना विपाक (प्रतिफल) उदय में आता है । उससे भी अधिक तीव्रतर द्वेष से क्रमशः हजार गुना, लाख गुना, करोड़ गुना विपाक उदय में आता है और उससे तीव्रतम अतिशय द्वेष-क्रोध आदि से या वधादिक पाप करने से कोटाकोटीगुणा अथवा इससे भी अधिक विपाक उदय में आते हैं । अर्थात् जैसे कषाय से कर्म बांधा होगा वैसा ही विपाक उदय में आता है और उसे उतनी मात्रा में वह प्रतिफल भोगना ही पड़ता है ॥१७८॥

केइत्थ करेंताऽऽलंबणं, इमं तिहुयणस्स अच्छेरं ।
जह नियमा खवियंगी, मरुदेवी भगवई सिद्धा ॥१७९॥

शब्दार्थ : कई भोले और स्थूलबुद्धि वाले लोग वधादि के प्रतिफल के बारे में तीनों लोक में आश्चर्यजनक इस खोटे

आलम्बन को लेकर कहते हैं कि मरुदेवी माता ने कौन-सा तप-संयम का कष्ट उठाकर अपने अंगों को क्षीण किया था ? फिर भी जैसे वे सिद्धगति पा गयीं; पहले किसी भी प्रकार के धर्म का आचरण किये बिना ही श्रीऋषभदेव की माता श्रीभगवती मरुदेवी ने मोक्ष प्राप्त कर लिया था; वैसे ही हम भी वधादि के विपाक (प्रतिफल) का अनुभव किये बिना और तप-संयम आदि धर्मानुष्ठान किये बिना ही मोक्षपद प्राप्त कर लेंगे ॥१७९॥

किं पि कहिं पि कयाई, एगे लद्धीहिं केहि वि निभेहिं ।
पत्तेअबुद्धलाभा, हवंति अच्छेरयब्भूया ॥१८०॥

शब्दार्थ : कई प्रत्येकबुद्ध पुरुष किसी समय भी कहीं भी बूढ़े बैल आदि वस्तु को देखकर, तदावरणकारक कर्मों के क्षयोपशम से या लब्धि से या किसी भी निमित्त से विषयभोग से विरक्त होकर तत्काल स्वतः प्रतिबुद्ध होकर स्वयमेव दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं । ये प्रत्येक बुद्ध जो अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं यह तो आश्चर्यभूत है ॥१८०॥

यानी ऐसे नमूने तो विरले ही मिलते हैं । इसीलिए ऐसे आलंबन की ओट में आत्मसाधना के प्रति उपेक्षा करना उचित नहीं है । बल्कि विशेष सावधान होकर धर्माचरण में प्रयत्न करना चाहिए । क्योंकि इस जन्म में बोये हुए उत्तम धर्मबीज का ही भविष्य में (अगले जन्म में) उत्तम फल

प्राप्त हो सकता है। अतः कोई भी बहाना बनाकर धर्मानुष्ठान में प्रमाद करना किसी भी हालत में उचित नहीं है ॥१८०॥

निहिसंपत्तमहन्नो, पत्थिंतो जह जणो निरुत्तप्पो ।
इह नासइ तह पत्तेअ बुद्धलद्धिं पडिच्छंतो ॥१८१॥

शब्दार्थ : जैसे किसी निर्धन मनुष्य को अचानक रत्नादि का निधान मिल जाये पर वह प्रमाद के वश होकर पुरुषार्थ नहीं करता तो उस निधि का भी नाश कर देता है। वैसे प्रत्येकबुद्ध की लब्धि की इच्छा करने वाला पुरुष भी तप-संयम आदि त्याग-बलिदान की क्रिया नहीं करता; ॥१८१॥ अर्थात् प्रमाद में पड़कर धर्माचरण को छोड़ देता है तो वह मोक्ष रूप निधान को नष्ट कर देता है। वह लब्धियों (सिद्धियों) के चक्कर में पड़कर कदापि आत्महित नहीं कर सकता ॥१८१॥

सोऊण गइं सुकुमालियाए, तह ससग-भसग-भइणीए ।
ताव न वीससियव्वं, सेयट्ठी धम्मिओ जीव ॥१८२॥

शब्दार्थ : 'ससक और भसक नाम के दोनों भाईयों की बहन सुकुमालिका की क्या हालत हुई ?' इसे सुनकर चाहे शरीर में खून और मांस सूख जाय और हड्डियाँ सफेद हो जाय; फिर भी मोक्षार्थी श्रेयस्कामी धार्मिक साधुओं को विषयादि का विश्वास नहीं करना चाहिए ॥१८२॥

खरकरहतुरयवसहा, मत्तगइंदा वि नाम दम्मंति ।
इक्को नवरि न दम्मइ, निरंकुसो अप्पणो अप्पा ॥१८३॥

शब्दार्थ : 'गधा, ऊँट, घोड़ा, बैल और मदोन्मत्त हाथी को भी युक्तिपूर्वक वश किया जा सकता है, मगर वश में नहीं किया जा सकता है तो एक निरंकुश स्वेच्छाचारी अपनी आत्मा को ही ।' आत्मा को ही नियंत्रित (दमन) करना वही सर्वश्रेष्ठ है ॥१८३॥

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि अ ॥१८४॥

शब्दार्थ : मैं स्वच्छन्दाचारी और असंयमी बनकर कुमार्ग में पड़कर दूसरों के द्वारा रस्सी आदि बंधनों और लकड़ी, चाबुक आदि के प्रहारों से काबू (दमित या नियंत्रित) किया जाऊँ; इससे तो बेहतर यही है कि मैं अपने आप (आत्मा) को संयम और तप के द्वारा स्वयं वश (दमन) करके रखूँ ॥१८४॥

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥१८५॥

शब्दार्थ : 'आत्मा का अवश्य ही दमन करना चाहिए । अपनी आत्मा (इन्द्रियों, मन, बुद्धि का) दमन (वश में) करना बहुत ही कठिन है । जिसने अपनी आत्मा का दमन

(वश) कर लिया, वह इस लोक और परलोक दोनों में सुखी होता है ।' ॥१८५॥

निच्चं दोससहगओ, जीवो अविरहियमसुहपरिणामो ।
नवरं दिन्ने पसरे, तो देइ पमायमयरेसु ॥१८६॥

शब्दार्थ : नित्य रागादि दोषों से लिपटा हुआ जीव-आत्मा निरंतर अशुभ परिणामों से भरा रहता है । इस आत्मा को निरंकुश छोड़ दिया जाय तो वह इस संसार-सागर में लोकविरुद्ध और आगमविरुद्ध कार्यों में पड़कर विषय-कषायादि प्रमादों से अपनी बहुत हानि करता है ।

मतलब है कि राग-द्वेष और प्रमाद से इस आत्मा का शीघ्र पतन होते देर नहीं लगती ॥१८६॥

अच्चिय वंदिय पूइय, सक्कारिय-पणमिओ-महग्घविओ ।
तं तह करेइ जीवो, पाडेइ जह अप्पणो ठाण ॥१८७॥

शब्दार्थ : साधक ही चाहे किसी ने (गुणग्राहक दृष्टि से) पूजा की हो अथवा सुगंधित द्रव्य से व अलंकारों से उसका सत्कार किया हो । अनेक लोगों ने उसकी गुण-गाथा (स्तुति) गायी हो, या वंदन किया हो । उसके स्वागत में खड़े होकर विनयपूर्वक सम्मान किया हो या मस्तक झुकाकर नमस्कार किया हो अथवा आचार्य आदि पदवी देकर असका गौरव (महत्त्व) बढ़ाया हो; फिर भी वह साधक अपनी

मूढ़ता, अहंकार या प्रमाद के चक्कर में पड़कर किसी अकार्य को कर बैठता है तो अपने महत्त्वपूर्ण स्थान को ही खो देता है । यानी थोड़े-से सुख के लिए बाह्य आडंबर, प्रदर्शन या खानपान, मान-सन्मान के चक्कर में पड़कर महान् वास्तविक सुख को ही खत्म कर देता है ॥१८७॥

सीलव्वयाइं जो बहुफलाइं, हंतूण सोक्खमहिलसइ ।
धिइदुब्बलो तवस्सी, कोडीए कागिणिं किणइ ॥१८८॥

शब्दार्थ : शील, व्रत, आदि का आचरण, स्वर्ग, मोक्ष आदि महान् फलों को देने वाला है । परंतु धैर्य रखने में कमजोर व असंतोषी तपस्वी शील-व्रतों को भंग करके विषय-सेवन रूप सुख की अभिलाषा करता है; वह मूर्ख अपनी दुर्बुद्धि-वश करोड़ों का द्रव्य देकर बदले में रुपये के ८० वें हिस्से के रूप में काकिणी पत्थर को खरीदता है ॥१८८॥

जीवो जहामणसियं, हियइच्छियपत्थिएहिं सोक्खेहिं ।
तोसेऊण न तीरइ जावज्जीवेण सव्वेण ॥१८९॥

शब्दार्थ : संसारी जीव को उसके मन की अभिलाषा के अनुरूप अथवा दिल में चिन्तित या प्रार्थित स्त्री आदि के सुखों से सारी जिंदगी संतुष्ट किया जाय; फिर भी उसकी संतुष्टि या तृप्ति नहीं होती । उलटे तृष्णा की वृद्धि होती जाती है ॥१८९॥

सुमिणंतराणुभूयं, सोक्खं समइत्थियं जहा नत्थि ।
एवमिमं पि अईयं, सोक्खं सुमिणोवमं होइ ॥१९०॥

शब्दार्थ : जैसे स्वप्न–अवस्था में अनुभव किया हुआ सुख जागृत अवस्था में बिल्कुल नहीं रहता । वैसे ही भूतकाल में प्रत्यक्ष–अनुभव किया हुआ विषयसुख भी वर्तमानकाल में उसी स्वप्न के सुख के समान हो जाता है । अतः समस्त विषयसुखों को तुच्छ, कल्पित और क्षणिक मानकर वैराग्यपूर्वक आत्मदमन करना ही सर्वथा उचित है ॥१९०॥

पुरनिद्धमणे जक्खो, महुरामंगू तहेव सुयनिहसो ।
बोहेइ सुविहियजणँ, विसूरइ बहुँ च हियएणं ॥१९१॥

शब्दार्थ : 'आगमन–सिद्धान्त की परीक्षा में कसौटी के पत्थर के समान यानी बहुश्रुत मंगू नाम के आचार्य मथुरा नगरी में गंदे नाले के पास वाले यक्षमंदिर में यक्ष रूप में उत्पन्न हुए । किन्तु अपने सुविहित साधुजन (शिष्यगण) को प्रतिबोध करते समय हृदय में अत्यंत शोक करते थे' ॥१९१॥

निग्गंतूण घराओ, न कओ धम्मो मए जिणक्खाओ ।
इड्ढिरससायगुरुयत्तणेण न य चेइओ अप्पा ॥१९२॥

शब्दार्थ : हा ! मैंने गृहस्थ का त्याग करके चारित्र अंगीकार किया परंतु सुंदर आवास, वस्त्र आदि ऋद्धि की प्राप्ति से ऋद्धि गारव (गर्व) स्वादिष्ट भोजन आदि के रस प्राप्त होने से रसगारव और कोमल शय्यादिक के सुख से

शाता गारव, इस तरह तीनों गारवों के चक्कर में पड़कर मैंने श्री जिनेश्वर भगवान् द्वारा उक्त धर्म की आराधना नहीं की और न मैंने अपनी आत्मा को सावधान ही किया। इसीलिए आज मेरी ऐसी दशा हुई है ॥१९२॥

ओसन्नविहारेणं, हा जइ झीणंम्मि आउए सव्वे ।
किं काहामि अहन्नो ? संपइ सोयामि अप्पाणं ॥१९३॥

शब्दार्थ : अफसोस है, मेरी सारी आयु चारित्र-पालन की शिथिलता (प्रमाद, असावधानी आदि) में बीत, क्षीण हो गयी; अब मैं अभागा धर्म रूप संबंध के बिना क्या करुँ ? अब (इस जन्म में) मैं आत्मा के बारे में चिन्ता कर रहा हूँ। परंतु अब शोक करने मात्र से क्या होगा ? ॥१९३॥

हा ! जीव ! पाव भमिहिसि, जाई जोणीसयाइं बहुयाइं ।
भवसयसहस्सदुल्लहं पि, जिणमयं एरिसं लद्धुं ॥१९४॥

शब्दार्थ : अरे पापी जीव ! लाखों जन्मों में भी अतिदुर्लभ और अचिंत्य चिंतामणि के समान श्रीजिनकथित धर्म को प्राप्त करके भी स्वच्छंदता के कारण उसकी आराधना नहीं की; इसीलिए तुझे एकेन्द्रियादि अनेक जातियों और शीतोष्णादि अनेक योनियों में सैकड़ों बार परिभ्रमण करना पड़ेगा ॥१९४॥

पावो पमायवसओ, जीवो संसारकज्जमुज्जुत्तो ।
दुक्खेह न निव्विण्णो, सुक्खेहिं न चेव परितुट्ठो ॥१९५॥

शब्दार्थ : यह पापी जीव विषय-कषायादि प्रमाद के वश होकर सांसारिक कार्यों में सदा उद्यमी रहा; और उनमें उसे विविध प्रकार के संयोग-वियोग अथवा जन्म-मरण के दुःख भी उठाने पड़े; लेकिन उन दुःखों के बावजूद भी उसे उनसे निर्वेद (वैराग्य) नहीं हुआ । और न इन्द्रिय-सुखों को पाकर भी वह संतुष्ट हुआ ॥१९५॥

परितप्पिएण तणुओ, साहारो जइ घणं न उज्जमइ ।
सेणियराया तं तह, परितप्पंतो गओ नरयं ॥१९६॥

शब्दार्थ : यदि स्वतंत्र रूप से तप-संयम आदि की आराधना में विशेष रूप से उद्यम न किया जाता है तो बाद में उसे पाप कर्म की निंदा गर्हा और पश्चात्ताप आदि से विशेष लाभ नहीं होता । वह लघुकर्मों का क्षय जरूर कर सकता है, परंतु महाकर्मों का नहीं । जैसे श्रेणिक राजा भी अंतिम समय में पश्चात्ताप करता रहा कि 'हाय ! मैंने चारित्र अंगीकार नहीं किया ।' फिर भी वह नरकगति में पहुँचा । इसीलिए पश्चात्ताप से स्वल्प कर्मों का ही क्षय होता है ॥१९६॥

जीवेण जाणिउ विसज्जियाणि जाईसएसु देहाणि ।
थोवेहिं, तओ सयलं पि, तिहुयणं हुज्ज पडिहत्थं ॥१९७॥

शब्दार्थ : विभिन्न अगणित जीव-योनियों में परिभ्रमण करते हुए जीव ने एकेन्द्रियादि सैकड़ों जातियों में शरीर को

ग्रहण करके पहले के जितने शरीरों को छोड़ा है, उन सारे त्यक्त शरीरों के अनंतवें भाग से भी तीनों जगत् (चौदह राजलोक) संपूर्ण भर जाते हैं तो सारे शरीरों की गिनती का तो कहना ही क्या ? फिर भी जीव को (जन्म-मरण के चक्कर से) संतोष नहीं होता ॥१९७॥

नह-दंतमंसकेसट्ठिएसु, जीवेण विप्पमुक्केसु ।
तेसु वि हविज्ज कइलास-मेरुगिरिसन्निभा कूडा ॥१९८॥

शब्दार्थ : पूर्वजन्मों में ग्रहण करके जीव के द्वारा छोड़े हुए नखों, दाँतों, मांस, बालों और हड्डियों का हिसाब लगाये तो कैलाश (हिमवान) मेरु आदि अनेक पर्वतों के समान अनंत ढेर हो जाय; क्योंकि उनका भी कोई अंत नहीं है ॥१९८॥

हिमवंतमलयमंदरदीवोदहिधरणिसरिसरासीओ ।
अहिअयरो आहारो, छुहिएणाहारिओ होज्जा ॥१९९॥

शब्दार्थ : संसार-समुद्र में परिभ्रमण करते हुए इस जीव ने अब तक इतना आहार किया है कि उसका हिसाब लगाये तो हिमवान पर्वत, मलयाचल पर्वत, मेरुपर्वत, जम्बूद्वीप आदि असंख्यात द्वीप, लवण-समुद्र आदि असंख्य समुद्र और रत्नप्रभादि सात पृथ्वियाँ आदि कुल मिलाकर इनके समान बड़े-बड़े ढेर कर दें तो इनसे भी अधिक आहार भक्षण किया है । अर्थात् एक जीव ने अनंत पुद्गल-द्रव्यों का भक्षण किया है फिर भी उसकी क्षुधा शांत नहीं हुई ॥१९९॥

जं णेण जलं पीयं, घम्मायवजगडिएण तं पि इहं ।
सव्वेसु वि अगड-तलाय-नई-समुद्देसु न वि होज्जा ॥२००॥

शब्दार्थ : ग्रीष्म-ऋतु की धूप से पीड़ित इस जीव ने इतना जल पिया है कि उसका हिसाब लगायें तो इतना जल सभी कुओं, तालाबों, गंगा आदि सभी नदियों और लवणादि सारे समुद्रों में भी न हो । अर्थात् एक जीव ने आज तक जितना जल पिया है कि वह सर्व-जलाशयों के जल से भी अनंत गुना है ॥२००॥

पीयं थणयच्छीरं, सागरसलिलाओ होज्ज बहुअयरं ।
संसारम्मि अणंते, माऊणं अन्नमन्नाणं ॥२०१॥

शब्दार्थ : इस जीव ने इस अनंत संसार में बचपन में भिन्न-भिन्न माताओं के स्तनों का दूध इतना पिया है कि जिसका हिसाब लगाय जाय तो समस्त समुद्रों के जल से भी अनंतगुना दूध हो जाय । मतलब यह है कि एक जीव ने अलग-अलग नये-नये शरीर धारण करके अलग-अलग माताओं का दूध सारे समुद्रों से अनंतगुना पिया है ॥२०१॥

पत्ता य कामभोगा, कालमणंतं इहं सउवभोगा ।
अप्पुव्वं पि व मन्नइ, तहवि य जीवो मणे सुक्खं ॥२०२॥

शब्दार्थ : इस संसार में अनंतकाल तक जीव ने घर-स्त्री-वस्त्र-अलंकार आदि उपभोग्य पदार्थों सहित कामभोग

अनंतबार प्राप्त किये हैं; फिर भी यह जीव अज्ञानतावश अपने मन में उन विषयादि सुखों को अपूर्व व एकदम नये मानता है ॥२०२॥

जाणइ य जहा भोगिड्डिसंपया सव्वमेव धम्मफलं ।
तह वि दढमूढहियओ, पावे कम्मे जणो रमई ॥२०३॥

शब्दार्थ : यह जीव जानता है और प्रत्यक्ष देखता भी है कि इन्द्रियों से उत्पन्न सुख, राजलक्ष्मी और धन-धान्य आदि संपदाएँ ये सभी धर्म के ही फल हैं । धर्माचरण के बीज बोने से ये सारे साधन रूपी फल मिले हैं । फिर भी अत्यंत वज्र-हृदय मूढ़ होकर जान बूझकर जीव पापकर्म में रमण करता है ॥२०३॥

जाणिज्जइ चिंतिज्जइ, जम्मजरामरणसंभवं दुक्खं ।
न य विसएसु विरज्जइ, अहो सुबद्धो कवडगंठी ॥२०४॥

शब्दार्थ : जन्म, जरा और मृत्यु से होने वाले दुःखों को यह जीव गुरुमहाराज के उपदेश सुनकर जानता है और मन में चिन्तन भी करता है । फिर भी यह जीव विषयों से विरक्त नहीं होता । खेद है, निपट महामोहान्धता के कारण कैसी मजबूत गांठ से जकड़ा हुआ है । किसी प्रकार भी यह मोह की गांठ ढीली नहीं होती और कोई विरला मोक्षगामी जीव ही संतोषवृत्ति धारण करता है ॥२०४॥

जाणइ य जह मरिज्जइ, अमरंतं पि हु जरा विणासेइ ।
न य उव्विग्गो लोगो, अहो ! रहस्सं सुनिम्मायं ॥२०५॥

शब्दार्थ : यह जीव जानता है कि सभी जीव को अपनी-अपनी आयु समाप्त होते ही अवश्य मरना है और फिर वृद्धावस्था नहीं मरे हुए जीव को भी मार डालती है । फिर भी लोग जन्म-मरण के भ्रमण से उद्विग्न (भयभीत) नहीं होते, उन्हें संसार से विरक्ति होती ही नहीं । 'महान् आश्चर्य है कि मोह का कितना गूढ़ रहस्यमय चरित्र है कि जीव को वह मिथ्याभ्रम में डालकर पाप में लिप्त कर देता है ॥२०५॥

दुप्पयं चउप्पयं बहुपयं, च अपयं समिद्ध-महणं वा ।
अणवकएऽवि कयंतो, हरइ हयासो अपरितंतो ॥२०६॥

शब्दार्थ : मनुष्य आदि दो पैरों वाले, गाय, भैंस आदि चार पैरों वाले, भौंरा आदि बहुत पैर वाले, सर्प आदि पैर रहित तथा धनवान, निर्धन अथवा पंडित और मूर्ख आदि सभी को बिना ही किसी अपराध के मृत्यु बिना थके या हताश हुए मार डालती है । मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती ॥२०६॥

न य नज्जइ सो दियहो, मरियव्वं चाऽवसेण सव्वेण ।
आसापासपरद्धो, न करेइ य जं हियं वज्झो ॥२०७॥

शब्दार्थ : किस दिन मरना है, इसे यह जीव नहीं जानता; परंतु सभी को एक न एक दिन अवश्य मरना है, इस बात को जानता है । फिर भी आशा रूपी पाश में

परवश हुआ और मौत के मुख में रहा हुआ यह जीव, जो हितकारक धर्मानुष्ठान है, उसे नहीं करता ॥२०७॥

संज्झरागजलबुब्बूओवमे,
जीविए य जलबिंदुचंचले ।
जुव्वणे य नइवेगसन्निभे,
पाव जीव ! किमयं न बुज्झसि ॥२०८॥

शब्दार्थ : यह जीवन संध्या की लालिमा के समान क्षणिक है, जल तरंग पानी के बुलबुले के समान नाशवान है, दर्भ के अग्रभाग पर पड़े हुए जलकण के समान चंचल है । और जवानी नदी के वेग के समान थोड़े-से समय टिकने वाली है । फिर भी पापकर्म में रचा-पचा जीव नहीं समझता और अपना अहित ही करता रहता है ॥२०८॥

जं जं नज्जइ असुइं, लज्जिज्जइ कुच्छणिज्जमेयं ति ।
तं तं मग्गइ अंगं, नवरि अणंगोत्थ पडिकूलो ॥२०९॥

शब्दार्थ : जिस अंग को अपवित्र समझता है, जिस अंग को देखते ही लज्जा आती है और जिस घिनौने अंग से धृणा करता है; स्त्री के उसी जघनादि अंगों की मूढ़ पुरुष अभिलाषा करता है । कामदेव के वश होकर जीव स्त्री के निन्दनीय अंगों को भी अतिरमणीय मानकर प्रकट रूप से प्रतिकूल आचरण करता है ॥२०९॥

सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्टी ।
कामग्गहो दुरप्पा, जेणाऽभिभूयं जगं सव्वं ॥२१०॥

शब्दार्थ : सभी ग्रहों का उत्पत्तिस्थान, महान् उन्माद रूप, सभी दोषों का प्रवर्त्तक महाग्रह परस्त्रीगमन–आदि रूप कामग्रह है । काम रूपी महादुरात्मा ग्रह के उत्पन्न होने पर वह चित्त को भ्रम में डाल देता है, इसने सारे जगत् को प्रभावित व पराजित कर रखा है । इसीलिए काम रूपी महाग्रह को छोड़ना अत्यंत कठिन है ॥२१०॥

जो सेवइ किं लहइ, थामं हारेइ दुब्बलो होइ ।
पावेइ वेमणस्सं, दुक्खाणि अ अत्तदोसेणं ॥२११॥

शब्दार्थ : जो पुरुष कामभोगों का सेवन करता है, वह क्या पाता है ? पाता क्या है ? बल्कि खोता है । उसे कभी तृप्ति नहीं होती उसके शरीर का बल क्षीण हो जाता है, वह वीर्यहीन हो जाता है, उसके चित्त में उद्वेग होता है । इसके कारण वैमनस्य भी पनपता है । और स्वच्छंद आचरण (आत्म–दोष) से क्षयरोग, प्रमेह आदि अनेक रोगों के दुःख भी वह पाता है ॥२११॥

जह कच्छुल्लो कच्छुं, कंडूयमाणो दुहं मुणइ सोक्खं ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुहं सुहं बेंति ॥२१२॥

शब्दार्थ : जैसे खुजली के रोग से पीड़ित मनुष्य अपने नखों से उस स्थान को बार–बार खुजलाने में दुःख को सुख

मानता है; वैसे ही मोहमूढ़ मनुष्य विषय भोगों की विडंबना को सुख मानता है। कामांधजीव विषयसुख को ही सारभूत समझता है ॥२१२॥

विसयविसं हालहलं, विसयविसं उक्कडं पियंताणं ।
विसयविसाइन्नं पिव, विसयविसविसूइया होइ ॥२१३॥

शब्दार्थ : ज्ञानी विवेकी महात्माओं ने विषय को हलाहल विष माना है। शब्दादि विषय रूपी विष से संयम रूपी जीवन का नाश हो जाता है विषय रूपी अग्रविष पीने से जीव उसके भयंकर परिणाम से अनंत दुःख प्राप्त करता है। अत्यंत खोटे परिणामों से अनंत बार जन्म लेना और मरना पड़ता है। और अंत में उसका डेरा दुर्गति में ही जाकर लगता है ॥२१३॥

एवं तु पंचहिं आसवेहिं, रइमाइणित्तुं अणुसमयं ।
चउगइदुहपेरंतं, अणुपरियट्टंति संसारे ॥२१४॥

शब्दार्थ : और इस तरह पाँचों इन्द्रियों के विकारों से अथवा प्राणातिपातादि पाँच आश्रवों से युक्त जीव मलिनपरिणामों से प्रतिक्षण पापकर्म रूपी मल को ग्रहण करता है। इस कारण वह जीव नरक आदि चारगति के दुःख रूप इस संसारचक्र में मोहमूढ़ होकर परिभ्रमण करता है ॥२१४॥

सव्वगईपक्खंदे, काहंति अणंतए अकयपुण्णा ।
जे य न सुणंति धम्मं, सोऊण य जे पमायंति ॥२१५॥

शब्दार्थ : जिस मनुष्य ने पुण्य नहीं किया; दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करके रखने वाले शुद्ध धर्म का श्रवण नहीं किया; अथवा धर्मश्रवण करने पर भी जो उसके आचरण में मद-विषय-कषाय-निद्रा-विकथा रूप पाँच प्रकार के प्रमाद करता है; वह जीव इस संसार की चारों गतियों में अनंत बार चक्कर लगाता है ॥२१५॥

अणुसिट्ठा य बहुविहं, मिच्छदिट्ठी य जे नरा अहमा ।
बद्धनिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं न य करंति ॥२१६॥

शब्दार्थ : सम्यग्दर्शन-ज्ञानरहित मिथ्यादृष्टि या जो अधम मनुष्य निकाचित रूप में ज्ञानावरणीयादि कर्मों के बंधन के कारण कदाचित् अनेक त्यागीजनों के धर्मोपदेश, प्रेरणा आदि से अथवा स्वजनों के अनुरोध से धर्मश्रवण तो कर लेते हैं; मगर भलीभांति धर्माचरण नहीं करते । सारांश यह है कि लघुकर्मी जीव ही धर्म की प्राप्ति कर सकते हैं ॥२१६॥

पंचेव उज्झिऊणं पंचेव, य रक्खिऊण भावेणं ।
कम्मरयविप्पमुक्का, सिद्धिगइमणुत्तरं पत्ता ॥२१७॥

शब्दार्थ : हिंसा आदि पाँच आश्रवों को छोड़कर और अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों (संवरों) का आत्मा के शुभ भावों से रक्षण करके जो आठकर्म रूपी मल से सर्वथा मुक्त होकर निर्मल आत्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही सर्वोत्कृष्ट सिद्धिगति को पाते हैं । इसीलिए हिंसादि पांच

आश्रवों का त्याग और अहिंसादि पाँच संवरों का अप्रमत्त रूप से पालन ही सिद्धिगति (मुक्ति) की प्राप्ति का कारण है ॥२१७॥

नाणे दंसण-चरणे तव-संयम-समिइ-गुत्ति-पच्छित्ते ।
दम-उस्सग्गववाए, दव्वाइ अभिग्गहे चेव ॥२१८॥
सद्दहणायरणाए निच्चं, उज्जुत्त-एसणाइ ठिओ ।
तस्स भवोयहितरणं, पव्वज्जाए जम्मं तु ॥२१९॥

शब्दार्थ : सम्यग् अवबोध रूप ज्ञान में, तत्त्वश्रद्धा रूप दर्शन में और आश्रवनिरोध-संवर (व्रत) ग्रहण रूप चारित्र में, बारह प्रकार के तप में, १७ प्रकार के संयम में, ईर्या-समिति आदि पाँच समितियों में, मनोगुप्ति आदि निवृत्तिमय ३ गुप्तियों में, पाँच इन्द्रियों के दमन (वशीकरण) में, शुद्धमार्ग के आचरण रूप उत्सर्ग (अथवा किसी प्रिय वस्तु का व्युत्सर्ग करने) में, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप ४ प्रकार के अभिग्रह धारण करने में तथा श्रद्धा पूर्वक धर्माचरण करने में या पूर्वोक्त बातों में श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति करने में जो साधक एषणादि-भिक्षाचरी-विधि में कमर कसकर जुटा रहता है; उस मुमुक्षु साधक का प्रवज्या (मुनि दीक्षा) से संसार-समुद्र-तरण अवश्य हो जाता है । यानी श्रद्धा पूर्वक धर्माचरण में जुटा रहने वाला संसारसमुद्र को अवश्य पार कर लेता है । मगर जो श्रद्धारहित होकर धर्माचरण करते हैं,

उनके पल्ले तो जन्म-मरण आदि का चक्कर ही पड़ता है ॥२१८-२१९॥

जे घरसरणपसत्ता, छक्कायरिऊ सकिंचणा अजया ।
नवरं मोत्तूण घरं, घरसंकमणं कयं तेहिं ॥२२०॥

शब्दार्थ : जो साधु अपने घरबार आदि का त्याग करके फिर उपाश्रय आदि घरों की मरम्मत करवाने, उसे बनवाने आदि में फंस जाते हैं, वे हिंसादि आरंभों के भागी होने से ६ काय के जीवों (समस्त प्राणियों) के शत्रु हैं, द्रव्यादि परिग्रह रखने-रखाने के कारण वे सकिंचन (परिग्रही) हैं और मन-वचन-काया पर संयम न रखने के कारण असंयत (असंयमी) हैं । उन्होंने केवल अपने पूर्वाश्रम (गृहस्थाश्रम) का घर छोड़ा और साधुवेष के बहाने नये घर (उपाश्रय) में संक्रमण किया है । यानी एक घर को छोड़कर प्रकारांतर से दूसरा घर अपना लिया है । उसका वेष केवल विडंबना के सिवाय और कुछ भी नहीं है ॥२२०॥

उसुत्तमायरंतो, बंधइ कम्मं सुचिक्कणं जीवो ।
संसारं च पवड्ढइ, मायामोसं च कुव्वइ य ॥२२१॥

शब्दार्थ : जो जीव सूत्र (शास्त्रों में उल्लिखित मर्यादा) के विरुद्ध आचरण करता है, वह अत्यन्त गाढ़-निकाचित रूप में चिकने ज्ञानावरणीय कर्मों का बंधन करता है; अपने आत्मप्रदेशों के साथ ऐसे स्निग्धकर्मों को चिपकाकर संसार

की वृद्धि करता है। ऐसा करने के साथ-साथ यह मायामृषा (कपट सहित असत्याचरण=दंभ) का सेवन करता है; वह भी उसके अनंत संसार वृद्धि का कारण बनता है ॥२२१॥

जइ गिण्हइ वयलोवो, अहव न गिण्हइ सरीरवोच्छेओ ।
पासत्थसंगमो वि य, वयलोवो तो वरमसंगो ॥२२२॥

शब्दार्थ : अगर सुविहित साधु पार्श्वस्थ (उत्सूत्राचारी) के द्वारा लाया हुआ आहार-पानी व वस्त्र आदि ग्रहण करता है तो उसके महाव्रत का लोप होता है और नहीं ग्रहण करता तो उसका शरीर टिक नहीं सकता । इस प्रकार ये दोनों ही कष्टरूप हैं । मगर अनुभवियों की सलाह है कि ऐसे मौके पर शरीर को परेशानी में डाल देना या छोड़ देना अच्छा; लेकिन पासत्थ साधक का संग करके व्रत लोप करने की अपेक्षा पासत्थ का संग न करना ही अच्छा है ॥२२२॥

आलावो संवासो, वीसंभो संथवो पसंगो अ ।
हीणायारेहिं सम्मं, सव्वजिणिंदेहिं पडिकुट्ठो ॥२२३॥

शब्दार्थ : हीन आचार वाले साधु के साथ बातचीत करने, साथ रहने, उसका विश्वास करने, गाढ़ परिचय करने और वस्त्रादि के लेने-देने का व्यवहार करने इत्यादि का ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकरों ने निषेध (मना) किया है ॥२२३॥

अन्नोन्नजंपिएहिं, हसिउद्धुसिएहिं खिप्पमाणो उ ।
पासत्थमज्झयारे, बलावि जई वाउली होइ ॥२२४॥

शब्दार्थ : पासत्थों के साथ परस्पर बातचीत करने से, अथवा निन्दा विकथादि बातें परस्पर करने से, हंसी-मजाक या मखौल व तानेबाजी करने से पासत्थों के साथ रहने वाला सुविहित साधु धीरे-धीरे किसी बात की बार-बार जोरदार प्रेरणा के कारण एक दिन व्याकुल (व्यग्र) हो उठता है और शुद्ध स्वधर्म-संयममार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए पासत्थों का संपर्क त्याज्य ही समझना चाहिए ॥२२४॥

लोए वि कुसंसग्गीपियं, जणं दुन्नियच्छमइवसणं ।
निंदइ निरुज्जमं, पियकुसीलजणमेव साहुजणो ॥२२५॥

शब्दार्थ : जिसे कुसंगियों का संसर्ग करने का शौक है; जो उद्धत वेषधारी है और जूआ आदि दुर्व्यसनों में ही रातदिन रचा-पचा रहता है; जैसे लोकव्यवहार में ऐसे लोगों की निन्दा होती है; वैसे ही सुविहित साधुजनों में भी ऐसे कुवेषधारी साधु की भी अवश्य निन्दा होती है, जो चारित्र पालन में शिथिल या आलसी है, उसे कुशीलजन ही प्रिय लगते हैं ॥२२५॥

निच्चं संकियभीओ, गम्मो सव्वस्स खलियचारित्तो ।
साहुजणस्स अवमओ, मओ वि पुण दुग्गइं जाइ ॥२२६॥

शब्दार्थ : मेरा दुष्ट आचरण कोई देख न ले, इस शंका से जो सदा शंकित रहता है; मेरा पाप खुल न जाय, इस दृष्टि से जो सदा भयभीत रहता है; मेरी बुरी प्रवृत्ति का कोई

भंडाभोड़ न कर दे, इस डर से जो बालक आदि तक से दबा हुआ रहता है, वह चारित्र विराधक कुशील साधु इस लोक में साधुजनों द्वारा निनन्दनीय होता है, और परलोक में भी वह दुर्गति का अधिकारी बनता है। इसीलिए चाहे प्राण चले जाएँ, मगर चारित्र की विराधना नहीं करनी चाहिए ॥२२६॥

गिरिसुअ-पुप्फसुआणं, सुविहिय ! आहरण्णं कारणविहन्नू ।
वज्जेज्ज सीलविगले, उज्जुयसीले हवेज्ज जई ॥२२७॥

शब्दार्थ : 'सुविहित साधुओ ! पर्वतीय प्रदेश में रहने वाले भीलों के तोते और फूलों के बाग में रहने वाले तापसों के तोते के उदाहरण से उन दोनों के दोष-गुण का कारण संग को ही समझो। उत्तम व्यक्ति के संग से गुण और अधम के संग से दोष पैदा होते हैं। इसी तरह आत्मार्थी साधुओं को भी आचारहीन दुःशील साधुओं का संग छोड़कर अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्यग् आराधना करने में पुरुषार्थ करना चाहिए। क्योंकि जैसी सोहबत (संगत) होगी, वैसा ही असर होगा। जैसा रंग होगा, वैसा ही रंग चढ़ेगा' ॥२२७॥

ओसन्नचरणकरणँ जइणो, वंदंति कारणं पप्प ।
जे सुविइयपरमत्था, ते वंदंते निवारेंति ॥२२८॥

शब्दार्थ : किसी कारणवश सुविहित साधु मूलगुण रूप चरण और पंचसमिति आदि उत्तरगुण रूप करण से शिथिल

या भ्रष्ट साधु की भी वंदना करते हैं। परंतु जिन्होंने परमार्थ को भलीभांति जान लिया है, वे 'हम तत्त्वज्ञ सुविहित मुनियों के द्वारा वंदन कराने योग्य नहीं हैं, इस प्रकार आत्म दोष को जानकर वंदना करने के लिए उद्यत पासत्था आदि साधुओं को रोके और उन्हें कहे कि आप हमें वंदना न करें। भावार्थ यह है कि मूल-उत्तरगुणों से रहित सुसाधुओं से वंदना न लें ॥२२८॥

सुविहिय वंदावेंतो, नासेइ अप्पयं तु सुप्पहाओ ।
दुविहपहविप्पमुक्को, कहमप्पं न जाणई मूढो ॥२२९॥

शब्दार्थ : जो पासत्था आदि शिथिलाचारी साधु सुविहित साधुओं से वंदना करवाता है, वह अपने ही सुप्रभाव को नष्ट करता है। अथवा वह सुपथ (मोक्षमार्ग) से अपनी आत्मा को दूर फेंकता है। क्योंकि आचारभ्रष्ट साधु साधुधर्म और श्रावकधर्म दोनों मार्गों से रहित होता है। पता नहीं, वह मिथ्याभिमानी मूढ़ अपने-आपको क्यों नहीं जानता कि मैं दोनों मार्गों से भ्रष्ट हो रहा हूँ; इससे मेरी क्या गति होगी ? ॥२२९॥

वंदइ उभओ कालंपि, चेइयाइं थवथुईपरमो ।
जिणवरपडिमाघरधूवपुप्फगंधच्चणुज्जत्तो ॥२३०॥

शब्दार्थ : जो सुबह-शाम (दोनों समय) और अपि शब्द से मध्याह्नकाल में भी (यानी तीनों काल) स्तवन और स्तुति

में तत्पर होकर चैत्यवंदन करता है तथा जिनवर-प्रतिमा-गृह में धूप, फूल, सुगंधित द्रव्य से अर्चन-(पूजन) करने में उद्यम करता है, वह श्रावक कहलाता है ॥२३०॥

सुविणिच्छियएगमइ, धम्मंमि अणण्णदेवओ य पुणो ।
न य कुसमएसु रज्जइ, पुव्वावरबाहयत्थेसु ॥२३१॥

शब्दार्थ : जो जैनधर्म में अटल, सुनिश्चित, एकाग्रमति है और वीतरागदेवों के सिवाय अन्य देवों को नहीं मानता, और न पूर्वापरविरोधी असंगत अर्थों (बातों) वाले कुशास्त्रों में जिसका अनुराग नहीं होता है; वही श्रावक कहलाता है । सच्चा श्रावक देव, गुरु, धर्म और शास्त्र की भली भांति परीक्षा करके धर्माराधना करता है ॥२३१॥

दट्ठुणं कुलिंगिणं, तस-थावर भूयमद्दणं विविहं ।
धम्माओ न चालिज्जइ, देवेहिं सइंदएहिं पि ॥२३२॥

शब्दार्थ : दृढ़धर्मी श्रावक, अपने हाथ से रसोई आदि बनाने में विविध प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों का मर्दन (आरंभ जनित हिंसा) करते हुए कुलिंगियों (अन्य धर्मपंथ के वेष वालों) को देखकर अपने धर्म से इन्द्र सहित देवों द्वारा चलायमान किये जाने पर भी विचलित नहीं होता ॥२३२॥

वंदइ पडिपुच्छइ, पज्जुवासेइ साहूणो सययमेव ।
पढइ सुणेइ गुणेइ य, जणस्स धम्मं परिकहेइ ॥२३३॥

शब्दार्थ : ऐसा श्रावक स्व-पर कल्याण के साधक साधुओं की सतत वंदना करता है, प्रश्न पूछता है, उनकी सेवाभक्ति करता है, धर्मशास्त्र पढ़ता है, सुनता है और पढ़ी-सुनी बातों पर अर्थपूर्ण चिन्तन करता है और अपनी बुद्धि के अनुसार दूसरों को या अल्पज्ञों को धर्म की बात बताता है या धर्म का बोध देता है ॥२३३॥

दढसीलव्वयनियमो, पोसह-आवस्सएसु अक्खलियो ।
महुमज्जमंस-पंचविहबहुबीयफलेसु पडिक्कंतो ॥२३४॥

शब्दार्थ : वह श्रावक ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत (शील) सहित ५ अणुव्रतों एवं नियमों पर दृढ़ रहता है। पौषध तथा आवश्यक अचूक तौर पर नियमित रूप से करता है। साथ ही मधु (शहद) मद्य (शराब) और मांसाहार, व बड़, गुल्लर (उदूम्बर) आदि ५ प्रकार के बहुबीज वाले फलों तथा बैंगन आदि बहुबीज वाले व आलू आदि अनंतकायिक जमीकंदों का त्यागी होता है ॥२३४॥

नाहम्मकम्मजीवी, पच्चक्खाणे अभिक्खमुज्जुत्तो ।
सव्वं परिमाणकडं, अवरज्झइ तं पि संकंतो ॥२३५॥

शब्दार्थ : कर्मादान कहलाने वाली १५ प्रकार की आजीविकाएँ या किसी भी प्रकार की अधर्मवर्द्धक आजीविका श्रावक नहीं करता, अपितु निर्दोष व्यवसाय करता है। वह १० प्रकार के प्रत्याख्यानों (त्याग-नियमों) में सदा उद्यत

रहता है, धन-धान्य आदि परिग्रह की मर्यादा करता है तथा आरंभादि पाप-दोष वाले कार्यों को भी शंकित होकर करता है; बाद में उसके लिये प्रायश्चित्त लेकर उससे मुक्त होता है। यही श्रावक की वृत्ति कहलाती है ॥२३५॥

निक्खमण-नाण-निव्वाण-जम्मभूमीओ वंदइ जिणाणं ।
न य वसइ साहुजणविरहियंमि देसे बहुगुणेवि ॥२३६॥

शब्दार्थ : जिनेश्वर भगवंत की दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण और जन्म (कल्याणक)की भूमियों को वंदन करे और (सुराज्य, सुजल, धान्यसमृद्ध, धन समृद्ध इत्यादि) अनेक गुण युक्त भी साधु महात्माओं से रहित देशों में निवास न करें (क्योंकि उसमें मानव जन्म के सारभूत धर्मार्जन (धर्म कमाई)में हानि पहुँचती है) ॥२३६॥

परतित्थियाण पणमण-उब्भावण-थुणण-भत्तिरागं च ।
सक्कारं सम्माणं, दाणं विणयं च वज्जेइ ॥२३७॥

शब्दार्थ : श्रावक बनने के बाद वह अन्यतीर्थिक (दूसरे धर्म-संप्रदाय वाले) साधुओं को गुरुबुद्धि से प्रणाम (वंदना नमस्कार), उनकी बढ़ा-चढ़ाकर तारीफ, या उनकी स्तुति, अथवा उनके प्रति भक्तिपूर्वक अनुराग, उनका वस्त्रादि से सत्कार, खड़े होकर सम्मान या उन्हें उत्तम पात्र मानकर आहारादि दान या उनके पैर धोने आदि के रूप में विनय करने का त्याग करता है ॥२३७॥

पढमं जईण दाऊण, अप्पणा पणमिऊण पारेइ ।
असई य सुविहिआणं, भुंजइ कयदिसालोओ ॥२३८॥

शब्दार्थ : भोजन के समय श्रावक इन्द्रिय-संयमी साधुओं को पहले निर्दोष आहार-पानी आदरपूर्वक देकर बाद में स्वयं भोजन करता है । अगर ऐसे सुपात्र-सुविहित साधुओं का निमित्त न मिले तो जिस दिशा में साधु-मुनिवर विचरण करते हों, उस दिशा में अवलोकन करके 'यदि इस समय साधु मुनिवर पधार जाएँ तो अच्छा हो, इस प्रकार की भावना के साथ भोजन करता है ॥२३८॥

साहूण कप्पणिज्जं, जं नवि दिन्नं कहिं पि किंचि तहिं ।
धीरा जहुत्तकारी, सुसावगा तं न भुंजंति ॥२३९॥

शब्दार्थ : किसी भी देश या काल में साधुओं के लिए कल्पनीय शुद्ध आहार आदि किंचिन्मात्र वस्तु भी उन्हें नहीं दे देते, तब तक वे धीर-गंभीर, सत्त्ववान श्रावक उस वस्तु को स्वयं नहीं खाते । अर्थात् मुनिवर जिस वस्तु को ग्रहण करते हैं, उसी वस्तु को वे स्वयं खाते हैं, अन्यथा नहीं ॥२३९॥

वसही-सयणाऽसण-भत्त-पाण-भेसज्ज-वत्थ-पत्ताई ।
जइ वि न पज्जतधणो, थोवा वि हु थोवयं देइ ॥२४०॥

शब्दार्थ : भले ही श्रावक पर्याप्त-धनसंपन्न न हो, तथापि वह अपने थोड़े-से आवास, सोने के लिए तख्त (पट्टे),

बैठने के लिए चौकी, आहार, पानी, औषध, वस्त्र, पात्र आदि साधनों में से थोड़े-से थोड़ा तो देता ही है। यानी अतिथिसंविभाग किये बिना आहार नहीं करता ॥२४०॥

संवच्छरचाउम्मासिएसु, अट्ठाहियासु अ तिहीसु ।
सव्वायरेण लग्गइ, जिणवरपूया-तवगुणेसु ॥२४१॥

शब्दार्थ : सुश्रावक संवत्सरी-पर्व, तीन चार्तुमासिक-पर्वों, चैत्र आषाढ़ आदि ६ अट्ठाइयों और अष्टमी आदि तिथियों में सर्वथा आदरपूर्वक जिनवरपूजा, तप तथा ज्ञानादिक गुणों में संलग्न होता है ॥२४१॥

साहूण चेइयाण य, पडिणीयं तह अवण्णवायं च ।
जिणपवयणस्स अहियं, सव्वत्थामेण वारेइ ॥२४२॥

शब्दार्थ : सुश्रावक साधुओं, चैत्यों (जिनमंदिरों) आदि के विरोधी, उपद्रवी और निन्दा करने वाले तथा जिनशासन का अहित करने वाले का अपनी पूरी ताकत लगाकर प्रतिकार करता है ॥२४२॥

विरया पाणिवहाओ, विरया निच्चं च अलियवयणाओ ।
विरया चोरिक्काओ, विरया परदारगमणाओ ॥२४३॥

शब्दार्थ : सुश्रावक हमेशा प्राणिवध से विरत होता है, मिथ्याभाषण से दूर रहता है, चोरी से भी विरत होता है और परस्त्रीगमन से भी निवृत्त होता है ॥२४३॥

विरया परिग्गहाओ, अपरिमियाओ अणंतण्हाओ ।
बहुरोसंकुलाओ, नरयगईगमणपंथाओ ॥२४४॥

शब्दार्थ : अपरिमित, (अमर्यादित) असीम, अनंत तृष्णाएँ नरकगति में ले जाने वाली राहें हैं और बंधन आदि दोषों से धिरी हुई है; इसीलिए श्रावक असीम परिग्रह (तृष्णा) से विरत होता है ॥२४४॥

मुक्का दुज्जणमित्ती, गहिया गुरुवयण-साहुपडिवत्ती ।
मुक्को परपरिवाओ, गहिओ जिणदेसिओ धम्मो ॥२४५॥

शब्दार्थ : सुश्रावक दुर्जनों की मैत्री छोड़कर तीर्थंकर आदि गुरुओं के वचनों को मान्य करता है और साधुओं की विनयभक्ति करता है । वह सदा परनिन्दा से दूर रहता है और राग-द्वेष को छोड़कर जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट समताभाव रूपी धर्म को सादर ग्रहण करता है ॥२४५॥

तवनियमसीलकलिया, सुसावगा जे हवंति इह सुगुणा ।
तेसिं न दुल्लहाइं, निव्वाणविमाणसुक्खाइं ॥२४६॥

शब्दार्थ : जो बारह प्रकार के तप, श्रावकधर्म के उपयुक्त कई नियम तथा शील-सदाचार आदि गुणों से सम्पन्न सद्गुणी सुश्रावक होते हैं, उनके लिये निर्वाण या वैमानिक देवलोक के सुख दुर्लभ नहीं है ॥२४६॥

सीएज्ज कयावि गुरु, तं पि सुसीसा सुनिउणमहुरेहिं ।
मग्गे ठवंति पुणरवि, जह सेलगपंथगो (पत्थिवो) नायं ॥२४७॥

शब्दार्थ : किसी समय कर्मों की विचित्रता के कारण गुरु प्रमादवश धर्ममार्ग से शिथिल-पतित-होने लगते हैं तो निपुण सुशिष्य उन्हें भी अत्यंत नैपुण्ययुक्त मधुरवचनों तथा व्यवहारों से पुनः सन्मार्ग (संयमपथ) पर स्थिर कर देते हैं। जैसे शैलक राजर्षि नामक गुरु को जाना-माना पंथक शिष्य सुमार्ग पर ले आया था ॥२४७॥

दस-दस दिवसे-दिवसे, धम्मे बोहेइ अहव अहिअयरे ।
इय नंदिसेणसत्ती, तहवि य से संजमविवत्ती ॥२४८॥

शब्दार्थ : 'प्रतिदिन दस या इससे भी अधिक व्यक्तियों को धर्म का प्रतिबोध देने की शक्ति विद्यमान थी फिर भी नंदिषेण मुनि के निकाचित कर्म-बंध के कारण संयम (चारित्र) का विनाश हुआ। अतः निकाचित कर्मबंध का भोग अत्यंत बलवान है ॥२४८॥ यही इस गाथा का भावार्थ है।'

कलुसीकओ अ किट्टीकओ, खउरीकओ मलिणिओ य ।
कम्मेहिं एस जीवो, नाऊण वि मुज्झई जेणं ॥२४९॥

शब्दार्थ : जैसे धूल से भरा हुआ पानी कीचड़वाला (मैला) हो जाता है, लोहे को जंग लग जाने पर वह भी मलिन हो जाता है और लड्डू पुराना हो जाने पर उसका स्वाद बिगड़ जाता है, उसमें से बदबू आने लगती है, उसी प्रकार यह जीव भी कर्मों से लिप्त होकर मलिन हो जाता है, विषय, कषाय, विकथा, प्रमाद आदि बुराइयों के जंग लग जाने से

बिगड़ जाता है, अथवा विषयवासनाओं आदि के चक्कर में वर्षों तक फंसा रहकर अपना स्वभाव खराब कर लेता है। संसारी जीव यह जानते हुए भी मोह से मूढ़ बना रहता है, इसके पीछे निकाचित कर्मदोष ही कारण है ॥२४९॥

कम्मेहिं वज्जसारोवमेहि, जउनंदणो वि पडिबुद्धो ।
सुबहुँ पि विसूरंतो, न तरइ अप्पक्खमं काउं ॥२५०॥

शब्दार्थ : यदुनंदन श्रीकृष्ण क्षायिकसम्यक्त्वी होने के कारण स्वयं जागृत थे और अपनी पापकरणी के लिए बहुत पश्चात्ताप भी करते थे; किन्तु वज्रलेप के समान गाढ़ चिपके हुए निकाचित कर्मों के कारण आत्महितकारक कोई भी अनुष्ठान न कर सके। अपने आत्महित की साधना करना सरल बात नहीं है। इसके लिये महान् पुण्योदय आवश्यक है ॥२५०॥

वाससहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउलं पि ।
अंते किलिट्ठभावो, न विसुज्झइ कंडरीओ व्व ॥२५१॥

शब्दार्थ : एक हजार वर्ष तक प्रचुरमात्रा में तप-संयम की आराधना करके भी कोई मुनि यदि अंतिम समय में अशुभ परिणाम ले आता है, तो वह कर्मक्षय करके विशुद्ध नहीं हो सकता। वह अपने अंतिम क्लिष्ट (राग-द्वेष युक्त) भावों के कारण दुर्गति में ही जाता है; जैसे कण्डरीक मुनि मलिन परिणामों के कारण नरक में गया ॥२५१॥

अप्पेण वि कालेणं, केई जहागहियसीलसामण्णा ।
साहंति निययकज्जं, पुंडरीयमहारिसि व्व जहा ॥२५२॥

शब्दार्थ : जिस भाव से शील-चारित्र-ग्रहण करते हैं, उसी भाव से शीलचारित्र की आराधना करने वाले कई साधु अल्पकाल में ही अपना कार्य (सद्गतिप्राप्ति रूप या मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य) सिद्ध कर लेते हैं; जैसे महर्षि पुण्डरीक ने अल्पकाल में ही सद्गति प्राप्त कर ली थी ॥२५२॥

काऊण संकिलिट्ठं सामन्नं, दुल्लहं विसोहिपयं ।
सुज्झिज्जा एगयरो, करिज्ज जइ उज्जमं पच्छा ॥२५३॥

शब्दार्थ : जिसने पहले चारित्र (श्रामण्य) को दूषित कर दिया हो, उसे बाद में चारित्र की शुद्धि करना अत्यंत दुष्कर हो जाता है । परंतु यदि कोई चारित्र की विराधना हो जाने के तुरंत बाद ही प्रमाद को छोड़कर विशुद्ध रूप से चारित्रपालन करने में उद्यम करता है तो वह कदाचित् अपनी शुद्धि कर सकता है ॥२५३॥

उज्झिज्ज अंतरे च्चिय, खंडिय सबलादओ व्व होज्ज खणं ।
ओसन्नो सुहलेहड, न तरिज्ज व पच्छ उज्जमिउं ॥२५४॥

शब्दार्थ : परंतु जो साधक साधुधर्म अंगीकार करने के बाद बीच में व्रतभंग करके चारित्र को खंडित कर देता है तथा प्रतिक्षण अशुद्ध भावों के वश अनेक प्रकार के अतिचारों (दोषों) का सेवन करके चारित्र को कलुषित (मलिन) बनाता

रहता है; उस शिथिल और सुख लम्पट साधु का पुनः संयम की शुद्धि के लिए उद्यम करना दुष्कर है ॥२५४॥

अवि नाम चक्कवट्टी, चइज्ज सव्वं पि चक्कवट्टिसुहं ।
न य ओसन्नविहारी, दुहिओ ओसन्नयं चयइ ॥२५५॥

शब्दार्थ : ६ खण्ड (राज्य) का अधिपति चक्रवर्ती अपने चक्रवर्ती जीवन के सभी सुखों को छोड़ने को तैयार हो सकता है, लेकिन शिथिलविहारी दुःखित होते रहने पर भी अपनी शिथिलाचारिता को छोड़ने को तैयार नहीं होता । क्योंकि चिकने (निकाचित) कर्मों से लिप्त होने के कारण वह अपनी आचार भ्रष्टता को छोड़ नहीं सकता ॥२५५॥

नरयत्थो ससिराया, बहु भणइ देहलालणासुहिओ ।
पडिओ मि भए भाउय ! तो मे जाएह तं देहं ॥२५६॥

शब्दार्थ : नरक में निवास करते हुए शशिप्रभ राजा ने अपने भाई से बहुत कुछ कहा – "भाई ! मैं पूर्वजन्म में शरीर के प्रति अत्यंत लाड़प्यार करके सुख-लंपट बन गया था, इसी कारण इस जन्म में नरक में पड़ा हूँ । अतः तुम मेरे पूर्वजन्म के उस देह को खूब यातना दो, उसकी भर्त्सना करो ॥२५६॥"

को तेण जीवरहिएण, संपयं जाइएण होज्ज गुणो ।
जइऽसि पुरा जायंतो, तो नरए नेव निवडंतो ॥२५७॥

शब्दार्थ : भाई ! पूर्वजन्म के निर्जीव (मृत) शरीर को अब लातें मारने, पीड़ा देने व विडम्बित करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? यदि तुमने पूर्वजन्म में ही उस शरीर को तप-संयमादि में लगाकर थोड़ी-सी भी पीड़ा दी होती तो नरक से भी तुम्हें लौटने का मौका आता अथवा नरक में जाने का अवसर ही न आता ! पर अब क्या हो सकता है ? अब तो अपने किये हुए कर्मों का फल तुम्हें भोगना ही पड़ेगा । इनसे छुटकारा दिलाने में अब कोई भी समर्थ नहीं है ॥२५७॥

जावाऽऽउ सावसेसं, जाव य थोवो वि अत्थि ववसाओ ।
ताव करिज्ज ऽप्पहियं, मा ससिराया व्व सोइहिसि ॥२५८॥

शब्दार्थ : जहाँ तक अपनी आयु शेष हो, जहाँ तक अपने शरीर और मन में थोड़ा-सा भी उत्साह है, वहाँ तक आत्महितकारी तप-संयमादि का अनुष्ठान कर लेना चाहिए; अन्यथा बाद में शशिप्रभ राजा की तरह पछताने का मौका आयेगा ॥२५८॥

घित्तूण वि सामण्णं, संजमजोगेसु होइ जो सिढिलो ।
पडइ जई वयणिज्जे, सोयइ अ गओ कुदेवत्तं ॥२५९॥

शब्दार्थ : जो साधक साधु जीवन (श्रमण धर्म) ग्रहण करके संयम की साधना में शिथिल (प्रमादी) बन जाता है; वह इस लोक में निन्दा का पात्र होता है; परलोक में भी कुदेवत्व या दुर्गति प्राप्त कर वह पछताता है । शिथिलाचार

दोनों लोकों में हानिकारक है । इसीलिए शिथिलाचार का त्याग करना चाहिए ॥२५९॥

सोच्चा ते जियलोए, जिणवयणं जे नरा न याणंति ।
सुच्चाण वि ते सुच्चा, जे नाऊणं न वि करंति ॥२६०॥

शब्दार्थ : जो मनुष्य अपने अविवेक या प्रमाद के कारण जिनवचनों को जानते नहीं, इस जीवलोक में उनकी दशा शोचनीय होती है; लेकिन इनसे भी बढ़कर अति-शोचनीय दशा उन लोगों की होती है, जो जिनवचनों को जानते-बूझते हुए भी प्रमादवश तदनुसार अमल में नहीं लाते । वस्तुतः जानबूझकर भी प्रमादादिवश जो व्यक्ति धर्माचरण नहीं करता, उसकी अंत में बड़ी दुर्दशा और दुर्गति होती है ॥२६०॥

दावेऊण धणनिहिं, तेसिं उप्पाडिआणि अच्छीणि ।
नाऊण वि जिणवयणं, जे इह विहलंति धम्मधणं ॥२६१॥

शब्दार्थ : इस संसार में जो जिनवचन को भलीभांति जानकर भी विषय, कषाय और प्रमाद के वशीभूत होकर अपने धर्म रूपी धन को खो देते हैं, उन्होंने स्वर्ण, रत्न आदि धन का खजाना रंक जनों को दिलाकर उनकी आँखें फोड़ ली हैं । मतलब यह है कि अभागा व्यक्ति धर्म (ज्ञान-दर्शन-रूपी)-धन पाकर भी उसका वास्तविक फल प्राप्त नहीं कर सकता ॥२६१॥

ठाणं उच्चुच्चयरं, मज्जं हीणं च हीणतरंग वा ।
जेण जहिं गंतव्वं, चिट्ठा वि से तारिसी होइ ॥२६२॥

शब्दार्थ : देवलोक रूपी उच्च स्थान, मोक्षगति रूपी उच्चतर स्थान मनुष्यगति रूपी मध्यम स्थान, तिर्यंचगति रूपी हीन और नरकगति रूपी हीनतर स्थान में से जिस जीव को जिस स्थान में जाना हो, वह वैसी ही चेष्टा करता है ॥२६२॥

जस्स गुरुंमि परिभवो, साहुसु अणायरो खमा तुच्छा ।
धम्मे य अणहिलासो, अहिलासो दुग्गईए उ ॥२६३॥

शब्दार्थ : जिसके मन में गुरु के प्रति अपमान की वृत्ति है, साधुओं के प्रति अनादर बुद्धि है, जो बात-बात में रोष से उबल पड़ता है, जिसकी क्षांति आदि दश प्रकार के श्रमण-धर्म में बिल्कुल रूचि नहीं है, ऐसी अभिलाषा दुर्गति में ले जाने वाली है ॥२६३॥

सारीरमाणसाणं, दुक्खसहस्सवसण्णाण परिभीया ।
नाणंकुसेण मुणिणो, रागगइंदं निरुंभंति ॥२६४॥

शब्दार्थ : शारीरिक और मानसिक हजारों दुःखों के आ पड़ने से डरे हुए या डरने वाले मुनिवर ज्ञानरूपी अंकुश से राग रूपी हाथी को वश में कर लेते हैं ॥२६४॥

सुग्गइमग्गपईवं, नाणं दिंतस्स हुज्ज किमदेयं ? ।
जह तं पुलिंदएणं, दिन्नं सिवगस्स नियगच्छिं ॥२६५॥

शब्दार्थ : मोक्ष रूपी सद्गति के मार्ग को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान जिन ज्ञानी गुरुदेव (धर्माचार्य) ने ज्ञान रूपी नेत्र दिये हैं, ऐसे उपकारी गुरु को नहीं देने योग्य

कौन-सी वस्तु है ? ऐसे ज्ञानदाता गुरु के चरणों में तो अपना सर्वस्व जीवन समर्पित करने योग्य है । जैसे उस पुलिंद भील ने अपनी आँखें महादेव को समर्पित कर दी थी ॥२६५॥ इसी प्रकार देवाधिदेव व गुरुदेव के प्रति सच्चे भक्तिभाव रखने चाहिए ॥२६५॥

सिंहासणे निसन्नं, सोवागं सेणिओ नरवरिंदो ।
विज्जं मग्गइ पयओ, इअ साहूजणस्स सुयविणओ ॥२६६॥

शब्दार्थ : मानव श्रेष्ठ श्रेणिक राजा ने स्वयं सिंहासन पर चांडाल को बिठाकर करबद्ध होकर नमस्कार करके उससे विद्या की याचना की थी, इसी तरह श्रुतज्ञान प्राप्त करने के लिए मुनिवरों को भी गुरु के प्रति विनय करना आवश्यक है ॥२६६॥

विज्जाए कासवसंतियाए, दगसूयरो सिरिं पत्तो ।
पडिओ मुसं वयंतो, सुअनिण्हवणा इअ अपत्था ॥२६७॥

शब्दार्थ : रातदिन शरीर को बार-बार पानी में ही डुबोए रखने वाले (अतिस्नानी) किसी त्रिदण्डी संन्यासी ने किसी नापित से विद्या सीखी । विद्या के प्रभाव से उसकी सर्वत्र पूजा-प्रतिष्ठा होने लगी । परंतु किसी के द्वारा 'यह विद्या किससे सीखी?' यों पूछे जाने पर जब उसने अपने 'विद्यागुरु' का नाम छिपाया तो उसकी विद्या नष्ट हो गयी ॥२६७॥

सयलंमि वि जीयलोए, तेण इहं घोसियो अमाघाओ ।
इक्कं पि जो दुहत्तं, सत्तं बोहेइ जिणवयणे ॥२६८॥

शब्दार्थ : जो व्यक्ति इस संसार में जन्म-मरण के दुःख से पीड़ित एक भी प्राणी को श्रीजिनवचन का बोध कराता है, वह इस १४ रज्जू प्रमाण लोक में अमारि पटह से घोषणा कराने सरीखा लाभ प्राप्त करता है; क्योंकि एक भी व्यक्ति जिनशासन को भलीभांति प्राप्त कर लेने पर अनंत-जन्म-मरण के चक्र से बच जाता है ॥२६८॥

समत्तदायगाणं दुप्पडियारं, भवेसु बहुएसु ।
सव्वगुणमेलियाहि वि, उवयारसहस्सकोडीहिं ॥२६९॥

शब्दार्थ : सम्यक्त्व - (बोधिबीज) प्रदाता गुरुजनों के उपकार का बदला चुकाना अनेक जन्मों में भी दुःशक्य है । क्योंकि अनेक भवों में भी गुरुदेव के करोड़ गुना उपकारों से उपकृत व्यक्ति सारे गुणों के द्वारा दो-तीन-चार गुना प्रत्युपकार मिलाकर भी अनंतगुना उपकार तक नहीं पहुँच सकता ॥२६९॥ इसीलिए सम्यक्त्वदाता धर्मगुरु का उपकार दुनिया में सर्वोत्कृष्ट है । उनकी भक्ति करनी चाहिए । अब सम्यक्त्व का फल बताते हैं -

सम्मत्तंमि उ लद्धे, ठइयाइं नरयतिरियदाराइं ।
दिव्वाणि माणुसाणि य, मोक्खसुहाइं सहीणाइं ॥२७०॥

शब्दार्थ : सम्यक्त्व प्राप्त होने पर उस जीव के नरक और तिर्यंच गति के बहुत-से द्वार बंद हो जाते हैं । यानी इन

दोनों गतियों में उसका जन्म नहीं होता । क्योंकि समकितधारी मानव प्रायः देवायु का बंध करता है । और देव प्रायः मनुष्यायु बांधता है । इसीलिए सम्यक्त्वी के दोनों अशुभगतियों के द्वार बंद हो जाते हैं । देव, मनुष्य और मोक्ष संबंधी सुख उसके हस्तगत हो जाते हैं ॥२७०॥

कुसमयसुईण महणं, सम्मत्तं जस्स सुट्ठियं हियए ।
तस्स जगुज्जोयकरं, नाणं चरणं च भवमहणं ॥२७१॥

शब्दार्थ : 'जिस व्यक्ति के हृदय में कुसमय (मिथ्या-दर्शनियों के सिद्धांत) का नाशक सम्यक्त्व सुस्थिर हो गया, समझ लो, उसको भव-भ्रमण का नाश करने वाले विश्व का उद्योत करने वाले केवलज्ञान और यथाख्यातचारित्र प्राप्त हो गया ।' क्योंकि सम्यक्त्व न हो तो ज्ञान ज्ञान नहीं होता और सम्यक् ज्ञान के बिना चारित्र प्राप्त नहीं होता । और चारित्र के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता । अतः मोक्ष का मुख्य कारण सम्यक्त्व है ॥२७१॥

सुपरिच्छियसम्मत्तो, नाणेणालोइयत्थसब्भावो ।
निव्वणचरणाउत्तो, इच्छियमत्थं पसाहेइ ॥२७२॥

शब्दार्थ : जिसने अच्छी तरह परीक्षा करके दृढ़ सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है, सम्यग्ज्ञान से जो जीव-अजीव आदि तत्त्वों का स्वरूप भलीभांति जानता है, और उस कारण से क्षतिरहित चारित्र के पालन में संलग्न है, यानी निश्चयदृष्टि से

जो सतत् पर भावों को छोड़कर स्वभाव में ही रमण करता है, वह जीव रत्नत्रय की सम्यग् आराधना के फलस्वरूप इष्ट अर्थ-शाश्वतसुखरूप मोक्षार्थ को साध लेता है ॥२७२॥

जह मूलताणए, पंडुरंमि दुव्वन्न-रागवण्णेहिं ।
बीभच्छा पडसोहा, इय सम्मत्तं पमाएहिं ॥२७३॥

शब्दार्थ : जैसे वस्त्र बुनते समय ताना (मूल तंतु) सफेद हो; किन्तु उसके साथ बाना काले, कत्थई आदि खराब रंग के तंतुओं के हों तो उस वस्त्र की शोभा मारी जाती है, वैसे ही पहले सम्यक्त्व निर्मल हो, लेकिन उसके साथ विषयकषाय-प्रमादादि के आ मिलने पर वह बिगड़ जाता है। इसीलिए सम्यक्त्व को मलिन करने वाले विषय-कषाय आदि प्रमाद शत्रुओं से बचना चाहिए; यही इसका निष्कर्ष है ॥२७३॥

नरएसु सुरवरेसु य, जो बंधइ सागरोवमं इक्कं ।
पलिओवमाण बंधइ, कोडिसहस्साणि दिवसेणं ॥२७४॥

शब्दार्थ : सौ वर्ष की उम्र वाला आदमी अगर पाप-कर्म करता है तो एक सागरोपम की आयु वाली नरक-गति का बंधन करता है और उतना ही पुण्यकर्म उपार्जन करता है तो एक सागरोपम वाली देव-गति का बंधन करता है। ऐसा पुरुष एक दिन में सुख-दुःख संबंधी हजार करोड़ पल्योपम जितना आयुष्य बांध लेता है, उतना ही पाप-पुण्य एक दिन में जीव उपार्जन कर लेता है। इसीलिए प्रमादपूर्ण आचरण छोड़कर निरंतर पुण्योपार्जन करते रहना चाहिए ॥२७४॥

पलिओवम संखिज्जं, भागं जो बंधई सुरगणेसु ।
दिवसे-दिवसे बंधई, स वासकोडी असंखिज्जा ॥२७५॥

शब्दार्थ : जो पुरुष मनुष्यजन्म में सौ वर्ष के पुण्याचरण से देव-गणों में पल्योपम के संख्यातवें भाग का अल्पायुष्य बांधता है; उस हिसाब से वह पुरुष प्रतिदिन असंख्यात करोड़ वर्ष का आयुष्य बांधता है । क्योंकि पल्योपम के संख्यातवें भाग से १०० वर्ष के दिनों का भाग देने से भाज्यफल प्रत्येक दिन का असंख्यात करोड़ वर्ष आता है ॥२७५॥

एस कम्मो नरएसु वि, बुहेण नाऊण नाम एयं पि ।
धम्मंमि कह पमाओ, निमेसमित्तं पि कायव्वो ! ॥२७६॥

शब्दार्थ : इसी क्रम से नरकों के आयुष्य बंध का भी हिसाब लगाकर भलीभांति समझकर पण्डित पुरुष को वीतराग कथित क्षमा आदि दस प्रकार के श्रमण-धर्म की आराधना में पलभर भी प्रमाद क्यों करना चाहिए ? मतलब यह है कि सतत् धर्माराधन में तत्पर रहना चाहिए ॥२७६॥

दिव्वालंकारविभूसणाइं रयणुज्जलाणि य घराइं ।
रुवं भोगसमुद्दओ, सुरलोगसमो कओ इहइं ? ॥२७७॥

शब्दार्थ : 'देवलोक में जैसे दिव्य छत्र, सिंहासन आदि ऐश्वर्यालंकार हैं, जैसे दिव्य मुकुट आदि आभूषण हैं, रत्नों की राशि की उज्जवल धरती और रत्नमय प्रासाद हैं, शरीर का कांतिमय रूप सौभाग्य है और अत्यंत अद्भुत भोग

सामग्री है, ऐसी मनुष्यलोक में कहाँ से हो सकती है ?' इसीलिए धर्मकार्य में उद्यम करना चाहिए, ताकि ऐसा सुख प्राप्त हो सके। यही इस गाथा का तात्पर्य है ॥२७७॥

देवाण देवलोए, जं सोक्खं तं नरो सुभणिओ वि ।
न भणइ वाससएण वि, जस्सऽवि जीहासयं होज्जा ॥२७८॥

शब्दार्थ : यदि किसी मनुष्य की सौ जिह्वाएँ हों, बोलने में भी निपुण हो और सौ वर्षों तक भी देवलोक में देवताओं के सुख का वर्णन करे, तो भी वह उस सुख का वर्णन नहीं कर सकता। ऐसे दिव्यसुखों में देवता मग्न रहते हैं। उसका वर्णन साधारण मनुष्य नहीं कर सकता ॥२७८॥

नरएसु जाइं अइकक्खडाइं, दुक्खाइं परमतिक्खाइं ।
को वण्णेही ताइं ? जीवंतो वास कोडीऽवि ॥२७९॥

शब्दार्थ : नरक-गति में जो अत्यंत दुःसह्य और विपाक की वेदना से अत्यंत तीक्ष्ण क्षुधा, तृषा, परवशता आदि दुःख हैं, उन दुःखों का करोड़ों वर्षों तक भी जिंदा रहकर मनुष्य वर्णन करे, फिर भी वर्णन करने में समर्थ नहीं होता ॥२७९॥

कक्खडदाहं सामलि-असिवण-वेयरणि-पहरणसएहिं ।
जा जायणाओ पावंति, नारया तं अहम्मफलं ॥२८०॥

शब्दार्थ : 'नरक के जीवों को अत्यंत तेज जलती आग में डालकर पकाया जाता है, सेमर के पेड़ के तीखे पत्तों से उनका अंगछेदन होता है, तलवार की नोक जैसे तीखे दुःखदायी पत्ते वाले

वृक्षों के जंगल में परिभ्रमण करना पड़ता है, वैतरणी नाम की नदी का गर्मागर्म शीशे के समान जल पीना पड़ता है, और कुल्हाड़ा, फरसा आदि सैकड़ों प्रकार के शस्त्रों से अंग काटे जाने से बड़ी पीड़ा पाता है। ये सभी यातनाएँ अधर्म, अनीति, अन्याय इत्यादि अधर्मकृत्य का फल है' ॥२८०॥

तिरियाकसंकुसारानिवाय-वह-बंधण-मारण-सयाइं ।
न वि इहयं पाविंता, परत्थ जइ नियमिया हुँता ॥२८१॥

शब्दार्थ : तिर्यंच-योनि में हाथी, घोड़ा, बैल आदि को अंकुश, चाबुक, जमीन पर गिराने, लकड़ी आदि से मारने, रस्सी, साँकल आदि से बांधने और जान से मार डालने इत्यादि के जो सैकड़ों दुःखों के अनुभव होते हैं। वह ऐसे दुःख नहीं पाता, बशर्ते कि पूर्वजन्म में स्वाधीन धर्म-नियमादि का पालन करता हो ॥२८१॥

आजीव संकिलेसो, सुक्खं तुच्छं उवद्दवा बहुया ।
नीयजणसिट्ठणा वि य, अणिट्ठवासो अ माणुस्से ॥२८२॥

शब्दार्थ : और मनुष्य-जन्म में भी जिंदगी भर मानसिक चिंता, अल्पकाल स्थायी तुच्छ विषयसुख, अग्नि, चोर आदि का उपद्रव, नीच लोगों की डांट फटकार, गाली-गलौज आदि दुर्वचन सहन करना और अनिष्ट स्थान में परतंत्रता से रहना पड़ता है। ये सब दुःख के हेतु हैं। इसीलिए मनुष्य-जन्म में भी सुख नहीं है ॥२८२॥

चारगनिरोह-वह-बंध-रोग-धणहरण-मरण-वसणाइं ।
मणसंतावो अजसो, विग्गोवणाया य माणुस्से ॥२८३॥

शब्दार्थ : और मनुष्य-जन्म में किसी भी अपराध के कारण कारागृह में बंद होना, लकड़ी आदि से मारपीट, रस्सी, साँकल आदि से बंधन, वात, पित्त और कफ से उत्पन्न रोग, धन का हरण, मरण, आफत, मानसिक उद्वेग, अपकीर्ति और अन्य भी बहुत प्रकार की विडंबनाएँ दुःख के कारण हैं । मनुष्य-लोक में भी सुख कहाँ है ? ॥२८३॥

चिंतासंतावेहि य, दारिद्दरुयाहिं दुप्पउत्ताहिं ।
लद्धूण वि माणुस्सं, मरंति केई सुनिव्विण्णा ॥२८४॥

शब्दार्थ : मनुष्य-जन्म पाकर भी कई लोगों को कुटुंब-परिवार के भरण-पोषण आदि की चिन्ता सताती रहती है, चोर, डाकू लुटेरे आदि का रात-दिन डर रहता है; पूर्वजन्म में किये हुए दुष्कर्मों के फलस्वरूप गरीबी होती है, क्षयादि रोग के कारण अत्यंत दुःखित होना पड़ता है और अंत में मृत्यु का दुःख भी महाभयंकर है । इसीलिए चिन्तायुक्त मनुष्य-जन्म निष्फल है ॥२८४॥ अतः अमूल्य मनुष्य-जन्म प्राप्त कर धर्मकार्य में पुरुषार्थ करना चाहिए ।

देवा वि देवलोए, दिव्वाभरणाणुरंजियसरीरा ।
जं परिवडंति तत्तो, तं दुक्खं दारुणं तेसिं ॥२८५॥

शब्दार्थ : देवलोक में दिव्य-अलंकारों से सुशोभित

शरीर वाले देवताओं को भी वहाँ से च्यवन करके अशुचि से भरे हुए गर्भवास में आना पड़ता है, वह उनके लिए अतिदारुण दुःख है । इसीलिए देवलोक में भी सुख नहीं है ॥२८५॥

तं सुरविमाणविभवं, चिंतिय चवणं च देवलोगाओ ।
अइबलियं चिय जं न वि, फुट्टइ सयसक्करं हिययं ॥२८६॥

शब्दार्थ : देवलोक का वह प्रसिद्ध अत्यंत ऐश्वर्य छोड़ने और उस देवलोक से च्यवन का मन से विचार करके घंटे के लोलक की तरह दोनों ओर से मार पड़ती है वैसे ही देवलोक के जीव को एक ओर सुखवैभव छोड़ने का दुःख और दूसरी ओर मृत्युलोक में गंदे अशुचिपूर्ण गर्भावास में उत्पन्न होने का महादुःख होता है । ऐसा विचार करते हुए भी उसका अत्यंत कठोर व बलिष्ठ हृदय फट नहीं जाता ॥२८६॥

और फिर देवगति के दारुण दुःखों का वर्णन करते हैं–

ईसा-विसाय-मय-कोह-माया-लोभेहि, एवमाईहिं ।
देवा वि समभिभूया, तेसिं कत्तो सुहं नाम ? ॥२८७॥

शब्दार्थ : देवों में भी परस्पर ईर्ष्या होती है, दूसरे देवों के द्वारा किये हुए तिरस्कार से विषाद होता है, अहंकार, अप्रीति रूप क्रोध, असहनशीलता, माया, कपटवृत्ति, लोभ और आसक्ति इत्यादि मन के विकारों से देव भी दबे हुए रहते हैं । वास्तव में उन्हें भी सुख कहाँ से मिल सकता है ? ॥२८७॥

धम्मं पि नाम नाऊण, कीस पुरिसा सहंति पुरिसाणं ? ।
सामित्ते साहीणे, को नाम करिज्ज दासत्तं ? ॥२८८॥

शब्दार्थ : इस तरह प्रचुर दुःखमय-संसारोच्छेदक सर्वज्ञ-प्रणीत सद्धर्म को सद्गुरु से जानकर स्व-पर-कल्याण की साधना करने में प्रयत्नशील सत्पुरुष की तरह जागृत होने के बदले, स्वहित साधन से जीव क्यों उपेक्षा करता है ? शुद्ध देव, गुरु और धर्मतत्त्व को यथार्थ रूप से जानने के बाद उसकी आराधना में प्रमाद करना अत्यंत अनुचित है । अरे ! ऐसा कौन मूर्ख है कि स्वामित्व छोड़कर दासत्व स्वीकार करने को तैयार हो ? जो साधक सर्वसुखदायी श्रीजिनेश्वर कथित सद्धर्म का अनादर कर विषयकषायादि प्रमाद में ही तत्पर रहता है; वह सद्गति का अनादर करके दुर्गति में अवश्य ही जाता है और दासत्व प्राप्त करता है, परंतु जो जिनवचन की आज्ञारूपी धर्म का पालन करता है, वह सब पर स्वामित्व प्राप्त करता है ॥२८८॥ इसीलिए श्रीजिनप्ररूपित धर्म की आज्ञा माननी चाहिए ।

संसारचारए चारए व्व, आवीलियस्स बंधेहिं ।
उव्विग्गो जस्स मणो, सो किर आसन्न-सिद्धिपहो ॥२८९॥

शब्दार्थ : इस चारगति रूपी संसार के परिभ्रमण-समान कैदखाने में अनेक प्रकार के कर्मबंधन से पीड़ित जिस पुरुष का मन उद्विग्न हो गया हो; अर्थात् 'इस संसाररूपी बंधन से मैं

कैसे छुटकारा पाऊँगा?' ऐसे रात-दिन विचार करने वाले जीव को निश्चय ही निकट भव्य जानना । उसका संसार परिमित है और वह जल्दी ही मोक्ष का अधिकारी हो जाता है ॥२८९॥

आसन्न-काल-भवसिद्धियस्स, जीवस्स लक्खणं इणमो ।
विसयसुहेसु न रज्जइ, सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥२९०॥

शब्दार्थ : जो जीव अल्पकाल में ही जन्म-मरण (संसार) का अंत कर मोक्ष-गति पाने वाला हो, वह पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होता, और तप-संयम रूप स्व-पर-कल्याण-साधना में पूरी ताकात लगाकर पुरुषार्थ करता है । यही आत्मार्थी का वास्तविक लक्षण है ॥२९०॥

होज्ज व न व देहबलं, धिइमइसत्तेण जइ न उज्जमसि ।
अच्छिहिसि चिरं कालं, बलं च कालं च सोअंतो ॥२९१॥

शब्दार्थ : हे शिष्य ! दैवयोग से शरीर में ताकत हो या न हो, फिर भी तू धैर्य, बुद्धिबल और उत्साह के साथ धर्म में उद्यम नहीं करेगा तो बाद में अफसोस करेगा - "हाय ! अब तो शरीर में ताकात न रही । यह धर्मकाय आज तो नहीं हो सकता, कल करूँगा; यों विचार करते-करते चिरकाल तक तू संसार में परिभ्रमण करता रहेगा ।" अर्थात् धर्म की आराधना नहीं करने से तुझे बाद में बहुत अर्से तक पछताना पड़ेगा- "आह ! अब क्या करूँ ! अब तो शरीर में शक्ति नहीं रही," इस प्रकार तुझे अफसोस करने का समय आयेगा ॥२९१॥

लद्धेल्लयं च बोहिं, अकरिंतोऽणागयं च पत्थिंतो ।
अन्नं दाइं बोहिं, लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ? ॥२९२॥

शब्दार्थ : 'हे मूर्ख ! तू इस जन्म में जिनधर्म प्राप्त करके उसका आचरण नहीं करता और अगले जन्म में मुझे जिनधर्म प्राप्त हो,' ऐसी प्रार्थना कर रहा है । भला, दूसरे जन्म में वह धर्म कहाँ से मिलेगा; जबकि इस जन्म में प्राप्त सामग्री का यथाशक्ति उपयोग नहीं किया ? इस जन्म में प्राप्त साधनों का यथोचित उपयोग करने वाला ही आगामी जन्म में उस सुख को प्राप्त कर सकता है ॥२९२॥

संघयण-कालबल-दूसमारुयालंबणाइ धित्तूणं ।
सव्वं चिय नियमधुरं, निरुज्जमाओ पमुच्चंति ॥२९३॥

शब्दार्थ : निरुद्यमी आलसी जीव, 'अब तो पहले आरे जैसा बलवान संघयण नहीं है, अब तो दुष्काल है' प्रथम आरे जैसा आज बल नहीं रहा; इस समय पाँचवां आरा चल रहा है, और निरोगी शरीर नहीं है, इसीलिए धर्म कैसे हो सकता है ? इस प्रकार के आलंबनों का सहारा लेकर प्राप्त हुए चारित्र, क्रिया, तप आदि सर्व नियमों का छोड़ देता है । ऐसा प्रमादी जीव स्व पर का विनाश करता है । परंतु ऐसे आलंबनों की ओट लेना ठीक नहीं है । समयानुसार आलस्य छोड़कर यथाशक्ति धर्म में उद्यम करना चाहिए ॥२९३॥

कालस्स य परिहाणी, संयम जोगाइं नत्थि खित्ताइं ।
जयणाए वट्टियव्वं, न हु जयणा भंजए अंगं ॥२९४॥

शब्दार्थ : ''काल दिनोंदिन हीन (पतन का) चला आ रहा है और संयम के योग्य ऐसे क्षेत्र भी वर्तमान में नहीं रहे, इसीलिए क्या करना चाहिए ?'' इस प्रकार के शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरुमहाराज कहते हैं– ''यतना पूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिए । यतना रखने से अवश्य ही चारित्र रूपी अंग का विनाश नहीं होता । इसीलिए यतना पूर्वक यथाशक्ति चारित्र पालन में उद्यम करना चाहिए'' ॥२९४॥

समिई-कसाय-गारव-इंदिय-मय-बंभचेरगुत्तीसु ।
सज्झाय-विणय-तव-सत्तिओ, अ जयणा सुविहियाणं ।२९५।

शब्दार्थ : सुविहित मुनियों की जयणा-यतना कर्त्तव्य करण-अकर्त्तव्य त्याग निम्न स्थानों में, कार्यों में होती है-१. सदा इर्यादि पांच समिति का पालन करना, २. क्रोधादि चार कषायों को रोकना, ३. ऋद्धि, रस और साता इन तीन गारवों (गर्वों) का निवारण करना, ४. पांच इन्द्रियों को वस करना, ५. आठ प्रकार के मदों का त्याग करना, ६. नौ प्रकार की ब्रह्मचर्यगुप्ति का पालन करना, ७. वाचना आदि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना, ८. दस प्रकार का विनय करना, ९. बाह्य और आभ्यंतर-भेद से बारह प्रकार के तप करना, तथा १०. अपनी शक्ति को नहीं छिपाना, (यह द्वार गाथा है अब क्रमशः द्वारों का वर्णन करते हैं) ॥२९५॥

जुगमित्तंतरदिट्ठी, पयं पयं चक्खुणा विसोहिंतो ।
अव्वक्खित्ताउत्तो, इरियासमिओ मुणी होइ ॥२९६॥

शब्दार्थ : मार्ग में चलते समय गाड़ी के जुड़े जितने फासले तक (चार हाथ प्रमाण क्षेत्र के अंदर) दृष्टि रखने वाले, कदम-कदम पर आँखों से भूमि का अच्छी तरह अवलोकन करने वाले तथा शब्दादि विषयों से रहित स्थिर मन वाले होने से धर्मध्यान में ही रहने वाले मुनि इर्यासमिति-पालक कहलाते हैं ॥२९६॥

कज्जे भासइ भासं, अणवज्जमकारणे न भासइ य ।
विगहविसुत्तियपरिवज्जिओ, य जइ भासणासमिओ ॥२९७॥

शब्दार्थ : मुनिराज काम पड़ने पर उपदेश, पठन-पाठनादि विशेष काम पड़ने पर निरवद्य भाषा बोलते हैं, बिना कारण वे नहीं बोलते। चार विकथाएँ और संयम की विराधना के कारणभूत विरुद्ध वचन नहीं बोलते। ऐसे दुर्वचनों का वे चिन्तन भी नहीं करते । ऐसे मुनि भाषासमिति बोलने में यतनाशील (सावधान) कहलाते हैं ॥२९७॥

बायालमेसणाओ, भोयणदोसे य पंच सोहेइ ।
सो एसणाइसमिओ, आजीवी अन्नहा होइ ॥२९८॥

शब्दार्थ : जो बयालीस प्रकार के एषणा संबंधी आहार-दोष तथा संयोग आदि पाँच प्रकार के भोजन करने के दोषों से बचकर शुद्ध आहार करता है; वह साधु एषणा-समितिवान (आहार में उपयोग वाला) कहलाता है । इससे विपरीत जो अशुद्ध और दोष युक्त आहार लेता है, वह

आजीविकाकारी कहलाता है । अर्थात् वह साधुवेष धारण करके सिर्फ पेट भरने वाला कहलाता है ॥२९८॥

पुव्विं चक्खूपरिक्खिय, पमज्जिउं जो ठवेइ गिण्हइ वा ।
आयाणभंडमत्तनिक्खेवणाए, समिओ मुणी होइ ॥२९९॥

शब्दार्थ : जो मुनि पहले आँखों से अच्छी तरह देखभाल कर और फिर रजोहरणादि से प्रमार्जन (पूंज) कर कोई भी वस्त्र-पात्र आदि वस्तु भूमि पर रखता है, अथवा भूमि पर से उठाता (ग्रहण करता) है, वह मुनि आदान (भूमि पर से वस्तुग्रहण) भंड (उपकरण) निक्षेपणा (पृथ्वी पर रखने की) समिति से युक्त कहलाता है ॥२९९॥

उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणए, य पाणविही ।
सुविवेइए पएसे, निसिरंतो होइ तस्समिओ ॥३००॥

शब्दार्थ : बड़ी नीति (शौच), लघुनीति (मात्रा), कफ आदि मुख का मैल, शरीर का मैल पसीना आदि, नाक का मैल (लींट) तथा अशुद्ध आहार-पानी आदि को जीवजंतु रहित निर्दोष स्थान में अच्छी तरह देखभाल कर विवेक से परिष्ठापन करने (डालने) वाला मुनि पारिष्ठापनिकासमितिपालक कहलाता है ॥ ३००॥

कोहो, माणो, माया, लोभो हासो, रई य अरई य ।
सोगो, भयं दुगंछा, पच्चक्खकली इमे सव्वे ॥३०१॥

शब्दार्थ : 'क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये सारे प्रत्यक्ष क्लेश के कारण और

अनर्थकारी हैं' ॥३०१॥ अब प्रथम क्रोध के पर्यायवाची शब्द और उसका स्वरूप बताते हैं-

कोहो, कलहो खारो, अवरुप्परमच्छरो अणुसओ अ ।
चंडत्तणमणुवसमो, तामसभावो य संतावो ॥३०२॥

निच्छोडण निब्भंच्छण, निरणुवत्तित्तणं असंवासो ।
कयनासो अ असम्मं, बंधइ घणचिक्कणं कम्मं ॥३०३॥

शब्दार्थ : क्रोध-अप्रीति, झगड़ा, परस्पर डाह या दुष्ट आशय रखना, तामस भाव रखना, संताप (खेद), भौंहे चढ़ाना, मुँह चढ़ाना, उपशम का अभाव और क्रोध से आत्मा को मलिन करना, दूसरे को डांटना, मारना-पीटना, दूसरे की इच्छानुसार नहीं चलना, रोष के कारण किसी के साथ न रहना, किसी के किये उपकार को बिलकुल धो डालना और विषय भावों में मग्न रहना; ये सभी क्रोध के फलस्वरूप होने से क्रोध के ही पर्यायवाची शब्द हैं । इनसे जीव अत्यंत कटुरस वाले निकाचित (चिकने) कर्म बांधता है । इसीलिए क्रोध का त्याग करना चाहिए ॥३०२-३०३॥

माणो मय-हंकारो, परपरिवाओ य अत्तउक्करिसो ।
परपरिभवो वि य तहा, परस्स निंदा असूया य ॥३०४॥

हीला निरोवयारित्तणं, निरवणामया अविणओ य ।
पर गुणपच्छायणया, जीवं पाडिंति संसारे ॥३०५॥ युग्मम्

शब्दार्थ : सामान्य अभिमान, जाति आदि का मद, अहंकार, दूसरे के दोषों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करना,

अपनी प्रशंसा करना अथवा अपने उत्कर्ष की डींग हांकना, दूसरे का अपमान करना, निंदा करना, दूसरे के गुणों में भी दोष (नुक्स) निकालना, दूसरे की हीन जाति आदि प्रकटकर उसे नीचा दिखाना, किसी का भी उपकार नहीं करना, अक्कड़पन, गुरु को देखकर खड़े नहीं होना, उन्हें आसन आदि नहीं देना; ये सभी मान के ही रूप होने से अभिमान के पर्यायवाचक हैं। इनका सेवन करने से जीव चतुर्गति रूपी संसार में चक्कर खाता है। इसीलिए मान शत्रु का काम करने वाला है, ऐसा समझकर इसका त्याग करें ॥३०४-३०५॥

मायाकुडंगपच्छण्णपावया, कुड-कवडवंचणया ।
सव्वत्थ असब्भावो, परनिक्खेवावहारो य ॥३०६॥

छल-छोम-संवइयरो, गूढायारत्तणं मई-कुडिला ।
वीसंभघायणं पि य, भवकोडिसएसु वि नडंति ॥३०७॥

युग्मम्

शब्दार्थ : सामान्य माया, गाढ़ निबिड़ माया, छिपे-छिपे पापकर्म करना, कूट-कपट, धोखेबाजी, ठगी, सर्वत्र अविश्वास, (अत्यंत वहम) असत्प्ररूपणा करना, दूसरे की धरोहर (अमानत) हड़प जाना, छल, अपने स्वार्थ के लिए पागल बनना, माया से गुप्त रहना, कुटिलता, वक्रमति और विश्वासघात करना, ये सभी माया रूप होने से माया के पर्यायवाची हैं। इस माया से जीव सौ करोड़ जन्मों तक

संसार में दुःखी होता है । अर्थात्–माया से बांधे हुए कर्म करोड़ों जन्मों में भोगे बिना नहीं छूटते । इसीलिए इसका त्याग करना चाहिए ॥३०६–३०७॥

लोभो अइसंचयसीलया य, किलिट्ठत्तणं अइममत्तं ।
कप्पण्णमपरिभोगो, नट्ठ–विणट्ठे य आगल्लं ॥३०८॥

मुच्छा अइबहुधणलोभया य, तब्भावभावणा य सया ।
बोलंति महाघोरे, जम्ममरणमहासमुद्दंमि ॥३०९॥ युग्मम्

शब्दार्थ : सामान्य लोभ, अनेक किस्म की वस्तुओं का अति संचय करना, मन में क्लिष्टता, वस्तु पर अत्यंत ममता, खाने–पीने आदि की उपभोग्य वस्तु पास में होने पर भी अत्यंत लोभवश उसका सेवन न करना और कृपणता के कारण खराब अन्न को नहीं फेंककर खाना, धान्यादि वस्तु खराब हो जाने पर भी खाकर रोगादि बढ़ाना, (नष्टविनष्ट–सेवन का लोभ) धन पर मूर्च्छा, धन का अत्यधिक लोभ तथा हमेशा लोभ के परिणामों में ही डूबे रहना, लोभ का ही चिंतन करना । ये सभी लोभ के सामान्य–विशेष भेद हैं । ये जीव को महा–भयंकर जन्म–मरण के प्रवाह रूपी महासमुद्र में डूबोते हैं ॥३०८–३०९॥ अतः इस दारुण लोभ का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

एएसु जो न वट्टिज्जा, तेण अप्पा जहट्ठिओ नाओ ।
मणुआण माणणिज्जो, देवाण वि देवयं हुज्जा ॥३१०॥

शब्दार्थ : उक्त सभी कषायविकारों से जो महापुरुष दूर रहता है, उसीने अपनी आत्मा को यथार्थ रूप (शुद्ध रूप) से जाना है। ऐसी निष्कषाय आत्मा मनुष्यों के द्वारा सम्मान्य और इन्द्रादि देवों द्वारा भी पूज्य होती है ॥३१०॥

जो भासुरं भुयंगं, पयंडदाढाविसं विघट्टेइ ।
तत्तो च्चिय तस्संतो, रोसभुयंगुव्वमाणमिणं ॥३११॥

शब्दार्थ : अगर कोई व्यक्ति चमकीले महाकाय और दाढ़ में प्रचंड विष वाले किसी सर्प को लकड़ी आदि से छेड़ता है तो उस पुरुष की मौत अवश्यंभावी होती है। इसी प्रकार भयंकर क्रोध रूपी सर्प को जो पुरुष छेड़ता है या भड़काता है, वह संयम रूपी जीवन का नाश करता है। अतः रौद्र सर्प की तरह क्रोध का त्याग करे ॥३११॥

जो आगलेइ मत्तं, कयंतकालोवमं वणगइंदं ।
सो तेणं चिय छुज्जइ, माणगइंदेण इत्थुवमा ॥३१२॥

शब्दार्थ : जिस तरह कोई अज्ञानी मनुष्य साक्षात् यमराज के समान अति भयंकर जंगली हाथी को पकड़ ले तो वह उसका चकनाचूर कर देता है; उसी तरह अभिमान रूप हाथी महाभयंकर है, वह समता रूपी स्तंभ को तोड़ने आदि के रूप में अनर्थ करता है। इसलिए उसका त्याग करे ॥३१२॥

विसवल्लीमहागणं, जो पविसइ साणुवायफरिसविसं ।
सो अचिरेण विणस्सइ, मायाविसवल्लिगहणसमा ॥३१३॥

शब्दार्थ : यदि कोई पुरुष विष लता के महावन में प्रतिकूल हवा चलने पर प्रवेश करता है, तो वह उस जहरीली हवा के स्पर्श और गंध से थोड़े समय में ही खत्म हो जाता है । इसी तरह माया भी विषलतामयी अटवी के सदृश महाभयंकर है । इसके स्पर्शमात्र से ही सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों का विनाश हो जाता है ॥३१३॥

घोरे भयागरे सागरंमि, तिमि-मगर-गाह-पउरंमि ।
जो पविसइ सो पविसइ, लोभमहासागरे भीमे ॥३१४॥

शब्दार्थ : जो मनुष्य, मच्छ, मगरमच्छ और ग्राहादि जल-जंतुओं से परिपूर्ण महाभय की खान सागर में प्रवेश करता है, वह मरणांत संकट का प्रत्यक्ष अनुभव करता है । उसी तरह जो जीव लोभ रूपी महासमुद्र में प्रवेश करता है, वह मानो महासमुद्र में डूबकर अत्यंत महाभयंकर अनर्थ को प्राप्त करता है ॥३१४॥

गुणदोसबहुविसेसं, पयं-पयं जाणिऊण नीसेसं ।
दोसेहिं जणो न, विरज्जइ त्ति कम्माण अहिगारो ॥३१५॥

शब्दार्थ : मोक्ष के हेतु ज्ञानादि गुणों और संसार के हेतु क्रोधादि दोषों के महान अंतर को जो व्यक्ति श्री सर्वज्ञकथित सिद्धांत से कदम-कदम पर पूरे तौर पर जानता है, मगर फिर भी क्रोधादि दोषों से विरक्त नहीं होता, यह उसके कर्म का ही दोष है । अर्थात् जानते हुए भी कर्म के वश दोषों को नहीं छोड़ सकता ॥३१५॥

अट्टहासकेलीकिलत्तणं, हासखिड्ड-जमगरुई ।
कंदप्पं उवहसणं, परस्स न करंति अणगारा ॥३१६॥

शब्दार्थ : घरबार के त्यागी अनगार (साधु) दूसरे लोगों के साथ, दिल खोलकर खिलखिलाकर हंसना, दूसरे के साथ क्रीड़ा करना और किलकारी मारना, (असंबद्ध वचन बोलना), हंसीमजाक में दूसरे के अंग को बार-बार स्पर्श करना, कामोत्तेजक विनोद करना, एक दूसरे के साथ हाथ से ताली पीटना, दूसरे को हंसाना, उपहास (मखौल) करना, मजाक-दिल्लगी करना; इत्यादि अनर्थों से दूर रहते हैं। वे जानते हैं कि हंस-हंसकर बांधे हुए कर्म रो-रोकर भी नहीं छूटते ॥३१६॥

साहूणं अप्परुई, ससरीरपलोयणा तवे अरई ।
सुत्थियवन्नो अइपहरिसो य नत्थि सुसाहूणं ॥३१७॥

शब्दार्थ : साधु आत्मरुचि अर्थात् मुझे ठंड, गर्मी आदि न लग जाय, इस दृष्टि से शरीर के प्रति ममता रखना, मेरा शरीर कितना सुंदर है ? यह सोचकर बार-बार आइने में देखना, मेरा शरीर कमजोर हो जायेगा, ऐसा विचार कर तपस्या में अरुचि दिखाना, मैं बहुत सुंदर हूँ, मेरा रंग रूप कितना अच्छा है ? इस तरह अपनी प्रशंसा करना और स्वस्थ सुडौल शरीर मिलने या होने पर अत्यंत हर्षित होना, इत्यादि में उत्तम साधु रति (मोह) नहीं करते ॥३१७॥

उव्वेवओ य अरणामओ य, अरमंतिया य अरई य ।
कलमलओ अ अणेगग्गया य, कत्तो सुविहियाणं ? ॥३१८॥

शब्दार्थ : सुविहित साधु धर्म-समाधि से उद्विग्न (चलित) पंचेन्द्रिय के विषयों में मन को बार-बार लगाना, धर्मध्यान में विमुखता, चित्त में अत्यंत उद्वेग, विषयों में मन की व्यग्रता और अनेक प्रकार के चपल विचार करना कि मैं यह खाऊँ, यह पीऊँ, यह पहनुँ इत्यादि मानसिक संकल्पों का हेतु अरति है । सुविहित साधु को वह हो ही कैसे सकती है ? ॥३१८॥

सोगं संतावं अधिइं च, मन्नुं च वेमणस्सं च ।
कारुण्ण-रुन्नभावं, न साहुधम्मंमि इच्छंति ॥३१९॥

शब्दार्थ : अपने बारे में मृत्यु का वहम करना, अतिगाढ़ संताप करना कि अरे ! मैं किस तरह इस गाँव को या ऐसे उपाश्रय को छोड़ सकूँगा ? अधीरता से ऐसा विचार करना, इन्द्रियों का रोध अथवा विकलता, मन की विकलता अर्थात् अत्यंत शोकजन्य क्षोभवश आत्महत्या का विचार करना, सिसक-सिसककर रोना अथवा फूट-फूटकर रोना, यह सब शोक का परिवार है । अपने धर्म में स्थिर साधु इसमें से एक की भी इच्छा नहीं करते ॥३१९॥

भय-संखोह-विसाओ, मग्गविभेओ बिभीसियाओ य ।
परमग्गदंसणाणि य, दड्ढधम्माणं कओ हुँति ? ॥३२०॥

शब्दार्थ : कायरता के कारण अकस्मात् भयभीत होना, क्षोभ व विषाद, चोरादि को देखकर भाग जाना, दीनता

रखना, मार्ग को छोड़कर सिंहादि भय से अन्य मार्ग को पकड़ना, भूतप्रेत आदि से डर जाना (ये दो जिनकल्पी साधु के लिए हैं) भय से अथवा स्वार्थ से अन्य धर्म के मार्ग का प्रशंसात्मक शब्दों में कथन करना, दूसरे के डर से गलत मार्ग बताना । ये सभी भय के ही प्रकार हैं । दृढ़धर्मी साधुओं को ये भय कैसे सता सकते हैं ? वे तो भय-रहित निर्भय रहते हैं ॥३२०॥

कुच्छा चिलीणमलसंकडेसु, उव्वेवओ अणिट्ठेसु ।
चक्खुनियत्तणमसुभेसु, नत्थि दव्वेसु दंताणं ॥३२१॥

शब्दार्थ : अत्यंत मलिन पदार्थों को देखकर जुगुप्सा (नफरत) करना, मृत शरीर, मलिन शरीर अथवा गंदे कपड़े आदि देखकर सिहर उठना, उद्विग्न होना, कीड़ियों के द्वारा भक्षण किये हुए और मृत कुत्ते आदि अशुभ वस्तु को देखकर दृष्टि को फेर लेना, इत्यादि सब जुगुप्सा के ही प्रकार हैं । जुगुप्सा साधुओं के पास भी नहीं फटकनी चाहिए ॥३२१॥

एवं पि नाम नाऊण, मुज्झियव्वं ति नूण जीवस्स ।
फेडेऊण ण तीरइ, अइबलिओ कम्मसंघाओ ॥३२२॥

शब्दार्थ : पूर्वोक्त कषायों, नोकषायों आदि को प्रसिद्ध जिनवचन से भलीभांति जानकर भी क्या जीव का मूढ बने रहना योग्य है ? जरा भी योग्य नहीं । तो फिर किसलिए जीव मूढ़ होता है ? उसके उत्तर में कहते हैं-जीव उन

कषायों को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता । उसका कारण है-आठ कर्मों के समुदाय का अति बलवान होना । मतलब यह है कि कर्म के परवश होकर यह जीव अकार्य करने में तत्पर हो जाता है ॥३२२॥

जह-जह बहुस्सुओ सम्मओ य, सीसगणसंपरिवुडो य ।
अविणिच्छिओ य समए, तह तह सिद्धंतपडिणीओ ॥३२३॥

शब्दार्थ : जितने-जितने जिसने शास्त्र सुने हैं, या पढ़े हैं, जो बहुत-से अज्ञानी लोगों द्वारा सम्मान्य है, जिसने शिष्य परिवार भी बहुत बढ़ा लिया है, किन्तु सिद्धांत के बारे में हमेशा डांवाडोल रहता है, दृढ़ निश्चयी बनकर सिद्धांत पर अटल नहीं रहता, न उसे कोई अनुभव है, न शास्त्रों का रहस्य ही जानता है तो उसे सिद्धांत (धर्म) का शत्रु समझना । क्योंकि ऐसे अनिश्चयी साधक के कारण धर्म-शासन की निंदा या बदनामी होती है । तत्त्वों का विज्ञ यदि अल्पश्रुत (थोड़े शास्त्र पढ़ा) हो तो भी आराधक है; किन्तु बहुश्रुत (अनेक शास्त्रों को पढ़ा हुआ) होने पर भी वह तत्त्वज्ञ न हो तो वह मोक्षमार्ग का आराधक नहीं, अपितु विराधक है ॥३२३॥

पवराइं वत्थपायासणोवगरणाइं, एस विभवो मे ।
अवि य महाजणनेया, अहं ति अह इड्डिगारविओ ॥३२४॥

शब्दार्थ : ममता में मूढ़ बना हुआ साधु ये श्रेष्ठ वस्त्र, पात्र, आसन और उपकरण आदि मेरी संपत्ति हैं, तथा मैं

महाजनों, बड़े-बड़े धनाढ्यों, अग्रगण्यों तथा साधु-साध्वियों आदि का नेता हूँ, ऐसा विचार करने वाला ऋद्धिगौरव से युक्त कहलाता है। अथवा उसकी प्राप्ति न हो तो उस ऋद्धि की इच्छा करना भी ऋद्धिगौरव कहलाता है ॥३२४॥

अरसं विरसं लूहं, जहोववन्नं च निच्छए भोत्तूं ।
निद्धाणि पेसलाणि य, मग्गइ रसगारवे गिद्धो ॥३२५॥

शब्दार्थ : रसगौरव में लोलुप साधु भिक्षा के लिए घूमते समय स्वाभाविक रूप से प्राप्त हुए नीरस, जीर्ण, ठंडे, बासी और वाल आदि रूखे-सूखे आहार-पानी को खाना नहीं चाहता; परंतु घी आदि से बना हुआ स्निग्ध, स्वादिष्ट, पौष्टिक मनोज्ञ आहार (दाताओं से) मांगता है या उसकी इच्छा करता है। उस साधु को रसगौरव अर्थात् जिह्वा के रस के गौरव में लोलुप जानना ॥३२५॥

सुस्सूसई सरीरं, सयणासणवाहणपसंगपरो ।
सायागारवगुरुओ, दुक्खस्स न देइ अप्पाणं ॥३२६॥

शब्दार्थ : अपने शरीर की शुश्रूषा-स्नानादि से मंडित करने वाला और कोमल गुदगुदाने वाली शय्या तथा बढ़िया, कीमती आसन; पादपीठ और कारण बिना किसी (नदी पार होने आदि) गाढ़ कारण के बहाने से नौका आदि सवारी का उपयोग करने में आसक्ति करनेवाला व सातागारव से

बोझिल बना हुआ साधु अपने शरीर को जरा भी कष्ट नहीं देता । इसे ही सातागौरव समझना ॥३२६॥

तवकुलच्छायाभंसो, पंडिच्चप्फंसणा अणिट्ठपहो ।
वसणाणि रणमुहाणि य, इंदियवसगा अणुहवंति ॥३२७॥

शब्दार्थ : इन्द्रियों का गुलाम बना हुआ जीव, बारह प्रकार के तप, कुल और अपनी प्रतिष्ठा का विनाश करता है; ऐसा विषयासक्त जीव अपने पांडित्य को मलिन कर देता है । उसके अनिष्टपथ अर्थात् दीर्घ-संसारमार्ग की वृद्धि होती है; उन्हें अनेक प्रकार के आफतों, कष्टों यहाँ तक कि मृत्यु वगैरह कष्ट तक का सामना करना पड़ता है; किसी समय युद्ध के मोर्चे पर भी जाना पड़ता है । इन्द्रियों के दासों को ये सब दुःखद अनुभव होते हैं ॥३२७॥

सद्देसु न रंजिज्जा, रूवं दट्ठुं पुणो न बिक्खिज्जा ।
गंधे रसे अ फासे, अमुच्छिओ उज्जमिज्ज मुणी ॥३२८॥

शब्दार्थ : संयमधारी साधु, चंदन, इत्र आदि सुगंधित द्रव्यों में, मिष्टान्न या शक्कर आदि मीठे तथा चटपटे, तीखे, खट्टे रसयुक्त पदार्थों के स्वाद में, सुकोमल शय्या आदि के स्पर्श में, वीणा, मृदंगादि की ध्वनि में तथा स्त्री के संगीत के शब्दों में आसक्त न हो तथा मनोहर स्त्री तथा उनके अंगोपांगों का सौंदर्य देखकर बार-बार मोह-रागबुद्धि से

उनके सम्मुख न देखें; न मूर्च्छित हों, अपितु मुनि-मार्ग में रहकर धर्माचरण करने में सदा उद्यम करें ॥३२८॥

निहयाणिहयाणि य इंदियाणि, धाएहऽणं पयत्तेणं ।
अहियत्थे निहयाइं, हियकज्जे पूयणिज्जाइं ॥३२९॥

शब्दार्थ : 'जब इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों पर मुनिवर राग और द्वेष नहीं होने देते, तभी उनकी वे इन्द्रियाँ वशीभूत हुई कही जाएँगी । अन्यथा, इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों में दौड़ते रहने से या उनकी प्रवृत्तियों को बिल्कुल रोककर निश्चेष्ट कर देने मात्र से वे वशीभूत हुई नहीं कहलातीं । उस समय कदाचित् कुछ वश में होती हैं, कुछ नहीं होतीं । अतः मुनियो ! प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों को वश में करो ।' कहने का मतलब यह है कि जिस समय आँखें स्त्रियों के सुंदर अंगोपांगों को देखने लिए लालायित हो रही हों, कान मधुर, अश्लील शब्दों को सुनने के लिए उद्यत हों, नाक सुगंध लेने के लिए आतुर हो, हाथ-पैर कोमल-कोमल स्पर्श के लिए ललचा रहे हों, जीभ मीठे-खट्टे आदि रसों को चखने के लिए उतारू हो रही हो, यानी इन्द्रियाँ अहितमार्ग में जाने को उद्यत हों, उस समय तुरंत उन्हें रोककर हितमार्ग में लगाने का प्रयत्न करें । अर्थात्-आँखों को भगवान् के शुभदर्शन में, कानों को उनकी वाणी श्रवण करने में तथा अन्य इन्द्रियों को भी इस प्रकार के शुभ भद्र और कल्याण में लगाएँ । क्योंकि

इंद्रियों को अहितकर मार्ग कार्य में लगाने पर निन्दा होती है और दीर्धकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है; जब कि अहितमार्ग से रोककर प्रयत्नपूर्वक हितकर कार्य में लगाने पर यश-कीर्त्ति बढ़ती है और संसार के बंधनों से मुक्त होकर आत्मा अविनाशीपद प्राप्त करती है ॥३२९॥

जाइ-कुल-रूव-बल-सुय-तव-लाभिस्सरिय-अट्ठमयमत्तो ।
एयाइं चिय बंधइ, असुहाइं बहुँ च संसारे ॥३३०॥

शब्दार्थ : ब्राह्मण आदि जातियों का मद, कुल-वंश (खानदान) का अभिमान, शरीरबल का घमंड, रूप-सौभाग्य आदि का गर्व, शास्त्रज्ञान का मद, तपस्या का गर्व, द्रव्यादि प्राप्त होने का अभिमान और ऐश्वर्य-सम्पन्नता का अहंकार; इन ८ मदों में जो मतवाला हो जाता है, वह अवश्य ही संसार में अनेक बार अशुभजाति आदि का संबंध करके उसके फलस्वरूप नीचजाति (गोत्र), नीचकुल, अल्पबल, खराब रूप, अल्पज्ञान, तप करने में दुर्बलता, अल्पलाभ, दरिद्रता आदि प्राप्त करता है ॥३३०॥

जाईए उत्तमाए, कुले पहाणंमि रूपमिस्सरियं ।
बलविज्जाय तवेण य, लाभमएणं व जो खिंसे ॥३३१॥

संसारमणवयग्गं, नीयट्ठाणाइं पावमाणो उ ।
भमइ अणंतं कालं, तम्हाउ मए विवज्जिजज्जा ॥३३२॥

शब्दार्थ : 'जो मनुष्य अपनी उत्तमजाति' उच्च कुल, मनोहर रूप, महान ऐश्वर्य, अतिबल, अधिक विद्या, तप करने की शक्ति और प्रचुर धन व सुखसामग्री प्राप्त करके अभिमान में चूर होकर अन्य जीवों की निन्दा या बदनामी करता है, उन्हें नीचा दिखाने की चेष्टा करता है, वह चारगति रूप अनंत संसार में जाति आदि की हीनता प्राप्त करके अनंतकाल तक परिभ्रमण करता है । इसीलिए बुद्धिमान पुरुष अभिमान का सर्वत्र त्याग करते हैं ॥३३१-३३२॥

सुट्ठ वि जई जयंतो, जाईमयाईसु मुज्झई जो उ ।
सो मेयज्जरिसी जह, हरिएसबलो व्व परिहाइ ॥३३३॥

शब्दार्थ : यदि कोई साधु एक ओर अत्यंत यतनापूर्वक दुष्कर चारित्र की आराधना करता हो, परंतु दूसरी ओर जाति आदि आठ मदों में चूर रहता हो तो उसे मेतार्य मुनि और हरिकेशीबल साधु की तरह नीच जाति में जन्म लेना पड़ता है ॥३३३॥ इन दोनों मुनियों की कथा पहले आ गयी है ।

इत्थिपसुसंकिलिट्ठं, वसहिं इत्थीकहं च वज्जंतो ।
इत्थिजणसंनिसिज्जं, निरूवणं अंगुवंगाणं ॥३३४॥

पुव्वरयाणुस्सरणं, इत्थीजणविरहरूवविलवं च ।
अइबहुय अइबहुसो, विवज्जंतो य आहारं ॥३३५॥

वज्जंतो अ विभूसं, जइज्ज इह बंभचेरगुत्तीसु ।
साहू तिगुत्तिगुत्तो, निहुओ दंतो पसंतो य ॥३३६॥

त्रिभिर्विशेषकम्

शब्दार्थ : मन, वचन और काया के योगों (व्यापारों) का निरोध करने वाला, शांत, इन्द्रियों का दमन करने में तत्पर, कषाय को ज्ञानबल से जीतने वाले मुनिराज को ९ प्रकार की ब्रह्मचर्यगुप्ति का आचरण करके ब्रह्मचर्य की रक्षा सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। वे ९ प्रकार की गुप्तियाँ इस प्रकार हैं - १. ब्रह्मचारीव्यक्ति, स्त्री, पशु, नपुंसक आदि कामांधजीवों से रहित निर्दोष एकांत स्थान में रहे। २. स्त्री-संबंधी रूप-शृंगार की कथा न करे अथवा केवल स्त्रियों के सम्मुख धर्मकथा भी न करे। ३. जिस स्थान या आसन आदि पर स्त्री बैठी हो उस स्थान या आसनादि पर दो घड़ी तक न बैठे। ४. स्त्रियों की आँखें, मुख, हृदयादि अंगोपांगों का रागबुद्धि से निरीक्षण न करे। ५. चारित्र-ग्रहण करने के पूर्व गृहस्थाश्रम में की हुई कामक्रीड़ा का कदापि स्मरण न करे। ६. स्त्रियों का विरह-विलाप आदि कान देकर न सुने। ७. गले तक ठूंस-ठूंसकर अति-भोजन न करे। ८. बहुत प्रकार का स्निग्ध पौष्टिक, गरिष्ठ, स्वादिष्ट भोजन सदा न करें और ९. शरीर को स्नान, विलेपन, शृंगार आदि से न सजाएँ; ताकि उससे खुद को या दूसरे को कामोत्तेजना न जागे। इस तरह इन ९ दूषणों से दूर रहकर मुनि ब्रह्मचर्य का यथार्थ पालन करे ॥३३४-३३५-३३६॥

गुज्झोरुवयण कक्खोरु अंतरे, तह थणंतरे दट्ठुं।
साहरइ तओ दिट्ठिं, न बंधइ दिट्ठिए दिट्ठिं ॥३३७॥

शब्दार्थ : साधुपुरुष स्त्री के गुह्य स्थान, (गुप्तांग), जांघ, मुख, कांख वक्षस्थल और स्तनों आदि में से किसी भी अंग पर कदाचित् दृष्टि पड़ जाय तो उसी समय अपनी दृष्टि वहाँ से हटा लेते हैं। स्त्री की दृष्टि से अपनी दृष्टि नहीं मिलाते और किसी कार्यवश मुनि स्त्री से बात भी करते हैं तो नीचा मुख रखकर ही ॥३३७॥

सज्झाएण पसत्थं झाणं, जाणइ य सव्वपरमत्थं ।
सज्झाए वट्टंतो, खणे खणे जाइ वेरग्गं ॥३३८॥

शब्दार्थ : शास्त्र-संबंधी, वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा रूप पंचविध स्वाध्याय करने वाला मुनिवर्य प्रशस्त ध्यान में लीन हो जाता है तथा स्वाध्याय से वह सारे परमार्थ (तत्त्व या रहस्य) को अच्छी तरह से जान लेता है। स्वाध्याय करने वाले मुनि को क्षण-क्षण वैराग्य प्राप्त होता रहता है। अर्थात् राग-द्वेष रूपी विष दूर होने से निर्विष हो जाता है ॥३३८॥

उड्ढमह तिरियलोए (नरया), जोइसवेमाणिया य सिद्धी य ।
सव्वो लोगालोगो, सज्झायविउस्स पच्चक्खो ॥३३९॥

शब्दार्थ : स्वाध्याय-वेत्ता मुनि के ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक इन तीनों लोकों का स्वरूप, चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिष्क, वैमानिक देवों का निवास और सिद्धिस्थान, मोक्ष और सर्वलोकालोक का स्वरूप प्रत्यक्षवत् हो जाता है। चौदह

रज्जूप्रमाण लोक और इससे भिन्न अपरिमित अलोक का स्वरूप भी स्वाध्याय के बल से मुनि जान जाता है ॥३३९॥

जो निच्चकालतवसंजमुज्जओ, न वि करेइ सज्झायं ।
अलसं सुहसील जणं, न वि तं ठावेइ साहुपए ॥३४०॥

शब्दार्थ : जो साधु निरंतर तप और पाँच आश्रव के निरोध रूप संयम में उद्यत रहता हो, लेकिन अध्ययन-अध्यापन रूपी स्वाध्याय नहीं करता या उससे विमुख रहता है, उस प्रमादी, सुखशील मुनि को लोग साधु मार्ग में साधु रूप में नहीं मानते । क्योंकि 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' अर्थात् ज्ञान और क्रिया इन दोनों से ही मोक्ष प्राप्त होता है । अतः दोनों की आराधना करनी चाहिए ॥३४०॥

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ? ॥३४१॥

शब्दार्थ : विनय ही शासन अर्थात् जिनभाषित द्वादशांगी में अथवा संघ में मूल है । विनयगुण से अलंकृत साधु ही संयमी होता है । विनय से रहित साधु के धर्म ही कहाँ और तप ही कहाँ ? अर्थात् जैसे मूल के बिना शाखा रह नहीं सकती, वैसे ही विनय के बिना धर्म (संयम) और तप दोनों नहीं टिक सकते ॥३४१॥

विणओ आवहइ सिरिं, लहइ विणीओ जसं च कित्तिं च ।
न कयाइ दुव्विणीओ, सकज्जसिद्धिं समाणेइ ॥३४२॥

शब्दार्थ : विनयी बाह्य-आभ्यंतर लक्ष्मी को प्राप्त करता है, विनयवान पुरुष जगत में यश और कीर्ति पाता है। परंतु विनय-रहित-दुर्विनित पुरुष अपने कार्य में कभी सिद्धि (सफलता) प्राप्त नहीं कर सकता। यह जानकर सर्व गुणों के वशीकरण विनयगुण की आराधना अवश्य करनी चाहिए ॥३४२॥

जह जह खमइ सरीरं, धुवजोगा जह जहा न हायंति ।
कम्मक्खओ य विउलो, विवित्तया इंदियदमो य ॥३४३॥

शब्दार्थ : जितना-जितना शरीर सहन कर सके; शरीर का बल क्षीण न हो और प्रतिलेखना, प्रतिक्रमण आदि नित्यनियम सुखपूर्वक हो सके, उतना-उतना इच्छा-निरोधयुक्त तप करना चाहिए। [1]ऐसा तप करने से विपुल कर्मों का क्षय होता है। यह आत्मा शरीर से भिन्न है तथा यह शरीर आत्मा से भिन्न है; ऐसी आध्यात्मिक भावना जागृत होने से इन्द्रियों का भी दमन अनायास हो जाता है ॥३४३॥

जइ ता असक्कणिज्जं, न तरसि काऊण तो इमं कीस ।
अप्पायत्तं न कुणसि, संजम-जइणं जईजोग्गं ? ॥३४४॥

शब्दार्थ : हे शिष्य ! यदि तू साधुप्रतिमा, तपस्या आदि क्रिया करने में अशक्त है तो इस आत्मा के अधीन साधु-योग्य संयम, यतना और पूर्वकथित क्रोधादि को वश करने

---

१. सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगुलं न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न सीयंति ॥

में क्यों प्रमाद करता है ? अर्थात् तपस्या की शक्ति न हो तो क्रोधादि पर विजय पाने का यत्न कर ॥३४४॥

जायंमि देहसंदेहयंमि, जयणाए किंचि सेविज्जा ।
अह पुण सज्जो य, निरुज्जमो य तो संजमो कत्तो ? ॥३४५॥

शब्दार्थ : किसी साधु के शरीर में महारोगादि कष्ट उत्पन्न होने पर यतना पूर्वक सिद्धांत की आज्ञा को लक्ष्य में रखते हुए अपवाद-मार्ग में वह अशुद्ध-आहारादि सेवन करे । परंतु बाद में जब शरीर निरोगी हो जाय, तब भी यदि वह साधु प्रमादी बनकर अपवाद रूप अशुद्ध आहार-पानी ही लेता रहता है; शुद्ध आहार पानी लाने में उद्यम नहीं करता तो उसे संयम कैसे कहा जा सकता है ? कदापि नहीं । क्योंकि आज्ञा-विरुद्ध आचरण करना संयम नहीं कहलाता ॥३४५॥

मा कुणउ जइ तिगिच्छं, अहियासेऊण जइ तरइ सम्मं ।
अहियासिंतस्स पुणो, जइ से जोगा न हायंति ॥३४६॥

शब्दार्थ : यदि साधु के शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न हुई हो और वह उसे समभावपूर्वक सहन कर सकता हो, और उसे सहन करते हुए प्रतिलेखना आदि संयम क्रियाओं में कोई अड़चन न आती हो, मन-वचन-काया के योगों (प्रवृत्तियों) में कोई क्षीणता, दुर्बलता या रुकावट न आती हो तो साधु उस व्याधि के निवारण (प्रतीकार) के रूप में श्रीसनत्कुमार चक्रवर्त्ती की तरह औषधोपचार (इलाज) न

करावे । यदि वह रुग्ण साधु उस महारोग को सहन न कर सके अथवा सहन करने से उसकी संयम-करणी में बाधा पहुँचती हो तो वह उसकी योग्य चिकित्सा करावे ॥३४६॥

निच्चं पवयणसोहाकराण, चरणुज्जयाण साहूणं ।
संविग्गविहारीणं, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥३४७॥

शब्दार्थ : सदा प्रवचन (जिनशासन) की प्रभावना (शोभा) बढ़ाने वाले, चारित्र पालने में उद्यत और मोक्षाभिलाषा से विहार करने वाले साधु को सभी प्रयत्नों से पूरी ताकत लगाकर सेवाभक्ति करनी चाहिए । क्योंकि साधुओं की सेवा से शीघ्र आत्मकल्याण होता है ॥३४७॥

हीणस्स वि सुद्धपरुवगस्स, नाणाहियस्स कायव्वं ।
जणचित्तग्गहणत्थं, करिंति लिंगावसेसे वि ॥३४८॥

शब्दार्थ : कोई साधु सिद्धांत (शास्त्र) के ज्ञान की विशुद्ध प्ररूपणा करने वाला हो, किन्तु संयममार्ग की क्रिया में शिथिल हो, फिर भी उसकी सेवा करना उचित है । उस समय मन में यों सोचना चाहिए कि और लोगों को धन्य है कि स्वयं गुणवान होने पर भी वे उपकारबुद्धि से निर्गुणी की भी सेवा (वैयावृत्य) करते हैं, इस तरह लोगों के चित्त का समाधान व संतोष करने के लिए भी कोरे वेषधारी की सेवा करे । क्योंकि अन्य भोले लोगों के दिल में ऐसा विचार न उठे कि ये साधु परस्पर जलते हैं, अपने समवेषी की भी सेवा नहीं करते ॥३४८॥

दगपाणं पुप्फफलं, अणेसणिज्जं गिहत्थकिच्चाइं ।
अजया पडिसेवंति, जइवेसविडंबगा नवरं ॥३४९॥

शब्दार्थ : असंयमी–शिथिलाचारी सचित्त जल का सेवन करते हैं, सचित फल–फूल आदि का उपभोग करते हैं, आधाकर्मी आदि दोषों से युक्त आहारादि ग्रहण करते हैं; गृहस्थ के समान आरंभ–समारंभ आदि सावद्यकर्म करते हैं और संयम के प्रतिकूल आचरण करते है । वे साधुवेष की केवल विडंबना (बदनाम) करने वाले हैं । वे थोड़ा–सा भी परमार्थ सिद्ध नहीं कर सकते ॥३४९॥

ओसन्नया अबोही, य पवयणउब्भावणा य बोहिफलं ।
ओसन्नो वि वरं पिहु, पवयणउब्भावणापरमो ॥३५०॥

शब्दार्थ : साधुधर्म की मर्यादा के विरुद्ध उपर्युक्त आचरण करके जो भ्रष्टचारित्री हो जाता है, वह इस जन्म में प्रत्यक्ष अपमानित व निदिन्त होता ही है, अगले जन्म में भी उसे बोधि (सद्धर्म के ज्ञान) की प्राप्ति नहीं होती । क्योंकि प्रवचन (शासन) की प्रभावना ही बोधिफल का कारण है । इसीसे आत्मार्थी मुनिवर की उन्नति हो सकती है । प्रवचन की निन्दा या बदनामी करके उसे नीचा दिखाने से बोधिलाभ नहीं हो सकता । मगर यदि कोई साधक किसी प्रबलकर्म के कारण संयममार्ग में शिथिल हो गया, लेकिन भवभीरु है, आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) करता है और आत्मार्थी मुनियों की

प्रशंसा करता है, सिद्धांत की शुद्ध प्ररूपणा करके प्रवचन-प्रभावना करता है, तो वह भी श्रेष्ठ समझा जाता है ॥३५०॥

गुणहीणो गुणरयणायरेसु, जो कुणइ तुल्लमप्पाणं ।
सुतवस्सिणो अ हीलइ, सम्मत्तं कोमलं (पेलवं) तस्स ।३५१।

शब्दार्थ : जो चारित्र आदि गुणों में स्वयं हीन हो, फिर भी साधु-गुणों के समुद्र रूप साधुओं के साथ अपनी तुलना करता है । अर्थात् अपनी बड़ाई करके डींग हांकता है कि 'हम भी उत्कृष्ट साधु हैं ? हम उनसे किस बात में कम हैं,' वह अच्छे सुसाधुओं तपस्वियों की हीलना (बदनामी) करता है । (उसमें सम्यक्त्व हो तो) उसका सम्यक्त्व नाजुक है; किसी समय भी टूट सकता है ॥३५१॥

ओसन्नस्स गिहिस्स व, जिणपवयणतिव्वभावियमइस्स ।
कीरइ जं अणवज्जं, दढसम्मत्तस्सऽवत्थासु ॥३५२॥

शब्दार्थ : जो जिनेश्वर भगवान् के प्रवचन (धर्मसंघ) के प्रति अत्यंत भावितमति (अनुरक्त) है और जिसका सम्यक्त्व दृढ़ है, वह अगर शिथिलाचारी, पासत्थादि साधु हो अथवा श्रावक, उसकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और अपवाद आदि कारणवश सेवा भी की जाय तो कोई दोष नहीं है ॥३५२॥

पासत्थोसन्नकुसीलणीयसंसत्तजणमहाछंदं ।
नाऊण तं सुविहिया, सव्वपयत्तेण वज्जिंति ॥३५३॥

शब्दार्थ : ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भलीभांति आराधना न करने वाला (पासत्थ), चारित्र में शिथिलाचारी (अवसन्न), शीलाचार से भ्रष्ट (कुशील), अविनयपूर्वक पढ़ने व ज्ञान की विराधना करने वाले (नीच), जहाँ जैसा संग मिले वहाँ उसकी संगति से वैसा बन जाने वाला (संसक्त) और अपनी स्वच्छन्द (अच्छृंखल) बुद्धि से कल्पना करके उत्सूत्र प्ररूपणा करने वाला (यथाच्छंदी); इन सबका भलीभांति स्वरूप जानकर सुविहित साधु सर्व-उपायों से उनसे दूर रहते हैं। क्योंकि उनका चारित्र नष्ट होने के कारण उनका संग करने योग्य नहीं ॥३५३॥

बायालमेसणाओ, न रक्खइ धाइसिज्जपिंडं च ।
आहारेई अभिक्खं, विगईओ सन्निहिं खाइ ॥३५४॥

शब्दार्थ : जो आहार के बयालीस दोषों से नहीं बचता; दोषयुक्त आहार लेता है, धात्रीपिंड (किसी बच्चे को खिलाने पर जो आहार मिले वह) ले लेता है तथा शय्यातरपिंड भी ग्रहण कर लेता है, बिना कारण हमेशा दूध, दही, घी आदि विकृति - (विग्गई) जनक पदार्थों को खाता है तथा जो बार-बार रहता है, रात-दिन चरता रहता है, या दिन में लाकर रात को रखता है; उस संचित पदार्थ को दूसरे दिन में खाता है; वह पार्श्वस्थ कहलाता है ॥३५४॥

सूरप्पमाणभोई, आहारेई अभिक्खमाहारं ।
न य मंडलीइं भुंजइ, न य भिक्खं हिंडई अलसो ॥३५५॥

शब्दार्थ : जो सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक पूरे दिन भर खाता रहता है, साधुओं की मंडली (मंडल) में साथ बैठकर आहार नहीं करता; परंतु अकेला ही भोजन करता है, तथा आलस्यवश भिक्षा के लिए सब जगह नहीं घूमता; या अपने स्थान पर ही गृहस्थ से आहार मंगवा लेता है, या खास-खास थोड़े-से घरों से आहार ले आता है ॥३५५॥

कीबो न कुणइ लोयं, लज्जइ पडिमाइ जल्लमवणेइ ।
सोवाहहो य हिंडइ, बंधइ कडिपट्टयमकज्जे ॥३५६॥

शब्दार्थ : जो मन का दुर्बल होकर केशों का लोच नहीं करता; जिसे कायोत्सर्ग आदि व प्रतिमा करने में लज्जा आती है, जो शरीर का मैल हाथ से या जल से उतारता है, जूते पहनकर चलता है और बिना कारण कमर पर चोलपट्टा बांधता है ॥३५६॥

गामं देसं च कुलं, ममायए पीढफलगपडिबद्धो ।
घरसरणेसु पसज्जइ, विहरइ य सकिंचणो रिक्को ॥३५७॥

शब्दार्थ : किसी या किन्हीं गाँव, नगर, देश (राष्ट्र) और कुल आदि को, 'ये मेरे हैं' इस प्रकार अपना मानकर जो उन पर ममता (आसक्ति) रखता है; चौकी (बाजोट), पट्टा (तख्त) आदि का इतना मोह है, उन्हें छोड़ने को या उनके बिना एक दिन भी चला लेने को जिसका जी नहीं चाहता; मकान (घर, उपाश्रय, भवन, सदन आदि) की मरम्मत कराने

या नया बनवाने आदि में जो आसक्त रहता है, रातदिन जो उसी की चिन्ता करता रहता है; अपने पास या अपने नाम से या अपने भक्तों के पास अपने स्वामित्त्व का सोना आदि परिग्रह रखने पर भी जो स्वयं को निर्ग्रंथ या द्रव्यत्यागी कहलवाता हुआ विचरता है ॥३५७॥

नह-दंत-केसरोमे, जमेइ उच्छोलधोयणो अजओ ।
वहइ य पलियंकं, अइरेगपमाणमत्थुरइ ॥३५८॥

शब्दार्थ : जो नख, दाँत, सिर के बाल और शरीर के रोमों को संवारता-सजाता है; जो गृहस्थ के समान काफी मात्रा में पानी लेकर हाथ-पैर आदि अंगों को धोता है; यतनारहित रहता है, पलंग, गद्दे, तकिये, बिस्तर आदि का उपयोग करता है और जो प्रमाण (नाप) से अधिक संथारा (शयनासन), उत्तरपट्टा आदि वस्त्रों का उपयोग करता है ॥३५८॥

सोवइ य सव्वराइं, नीसट्ठमचेयणो न वा झरइ ।
न पमज्जंतो पविसइ, निसिहीयावस्सियं न करेइ ॥३५९॥

शब्दार्थ : जो सारी रात अमर्यादित बेखटके, निश्चित और गाफिल होकर चेतनारहित, जड़ काष्ट की तरह सोया रहता है और स्वाध्याय आदि नहीं करता, रात को अंधेरे में रजोहरण आदि से प्रमार्जन किये बिना ही उपाश्रय में घूमता है तथा प्रवेश करते समये 'निस्सीही निस्सीही' और निकलते समय 'आवस्सही आवस्सही' उच्चारण करने इत्यादि साधु-समाचारी का पालन नहीं करता ॥३५९॥

पायपहे न पमज्जइ, जुगमायाए न सोहए इरियं ।
पुढवीदग अगणिमारुयवणस्सइतसेसु निरविक्खो ॥३६०॥

शब्दार्थ : जो मार्ग में चलते समय, ग्राम की सीमा में प्रवेश करते समय अथवा गाँव से निकलते समय पैरों का प्रमार्जन नहीं करता, गाड़ी के जुड़े के जितना दूर यानी चार हाथ जमीन तक दृष्टि रखकर इर्याशोधन करते हुए नहीं चलता, पृथ्वीकाय, अप्‌काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन ६ जीवनिकायों की विराधना करते हुए जो मन में जरा भी संकोच नहीं करता । निःशंक होकर जो यहाँ-वहाँ सर्वत्र घूमा करता है ॥३६०॥

सव्वं थोवं उवहिं न पेहए, न य करेइ सज्झायं ।
सद्दकरो, झंझकरो, लहुओ गणभेयतत्तिल्लो ॥३६१॥

शब्दार्थ : जो सब से छोटी उपधि (उपकरण) मुख-वस्त्रिका है, उसकी भी प्रतिलेखना नहीं करता; अन्य वस्त्रों का तो कहना ही क्या ? दिन को स्वाध्याय नहीं करता, रात को जोर-जोर से ऊँचे स्वर से स्वाध्याय करता है, दूसरों के साथ कलह-क्लेश करता रहता है, अत्यंत तुच्छ स्वभाव वाला है जिसमें गंभीरता का गुण नहीं है और जो गच्छ (समुदाय) में फूट डालने और झगड़ा करने में तत्पर रहता है ॥३६१॥

खित्ताईयं भुंजइ, कालाईयं तहेव अविदिन्नं ।
गिण्हइ अणुइयसूरे, असणाई अहव उवगरणं ॥३६२॥

शब्दार्थ : जो दो कोस से उपरांत (दूर) क्षेत्र में आहार-पानी ले जाकर उसका सेवन करता है तथा तीन प्रहर से उपरांत काल तक आहार रखकर खाता है, किसी के द्वारा नहीं दिये हुए आहारादि का उपभोग करता है, सूर्योदय के पहले अशनादि चार प्रकार के आहार ले लेता है । ऐसे लक्षणों वाला साधु पासत्थादि कहलाता है ॥३६२॥

ठवणकुले न ठवेई, पासत्थेहिं च संगयं कुणइ ।
निच्चामवज्झाणरओ, न य पेहपमज्जणासीलो ॥३६३॥

शब्दार्थ : जो स्थानाकुल अर्थात् वृद्ध, ग्लान, रुग्ण, आदि साधुओं की अत्यंत भक्ति करने वाले श्रावक के घर से बिना कारण आहार लेने जाता है, ऐसे घर से आहार लेने से रुकता नहीं; आचारभ्रष्ट साधुओं का संग करता है; हमेशा दुर्ध्यान में तत्पर रहता है और दृष्टि से देखकर या रजोहरणादि से प्रमार्जन करके भूमि पर वस्तु रखने का आदी नहीं है ॥३६३॥

रीयइ य दवदवाए, मूढो परिभवइ तहय रायणिए ।
परपरिवायं गिण्हइ, निठुरभासी विगहसीलो ॥३६४॥

शब्दार्थ : और बिना उपयोग के जो जल्दी-जल्दी चलता है और जो मूढ़, ज्ञानादिगुणरत्नों में अधिक दीक्षा ज्येष्ठ का अपमान करता है, उनकी बराबरी करता है, दूसरों की निन्दा करता है, निष्ठुर होकर कठोर वचन बोलता है और स्त्री आदि की विकथाएँ करता रहता है ॥३६४॥

विज्जं मंतं जोगं, तेगिच्छं कुणइ भूइकम्मं च ।
अक्खरनिमित्तजीवी, आरंभपरिग्गहे रमइ ।।३६५।।

शब्दार्थ : जो विद्या=देवी-अधिष्ठित, मंत्र-देवअधिष्ठित, अदृश्य करणादि योग (चूर्ण), औषध-प्रयोग, भूतिकर्म-राख (वासक्षेप) आदि मंत्रित कर गृहस्थ को देता है तथा अक्षरविद्या और शुभाशुभलग्नबलादि निमित्त गृहस्थों को बताकर अपनी आजीविका चलाता है; या प्रतिष्ठा बटोरता है; तथा अधिक उपकरण आदि के संचय रूप परिग्रह में ही अहर्निश आसक्त रहता है ।।३६५।।

कज्जेण विणा उग्गहमणुजाणावेइ, दिवसओ सुयइ ।
अज्जियलाभं भुंजइ, इत्थिनिसिज्जासु अभिरमइ ।।३६६।।

शब्दार्थ : जो बिना प्रयोजन के गृहस्थों को रहने के लिए अवग्रह-भूमि की अनुज्ञा देता है, दिन को सोता है, साध्वियों का लाया हुआ आहार करता है और स्त्री के उठने के तुरंत बाद ही उस स्थान पर बैठ जाता है ।।३६६।।

उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए अणाउत्तो ।
संथारगउवहीणं, पडिक्कमइ वा सपाउरणो ।।३६७।।

शब्दार्थ : जो वड़ीनीति-लघुनीति (मलमूत्र) थूक, कफादि और नाक का मैल (लींट) आदि असावधानी से यतना के बिना जहाँ-तहाँ परठ (डाल) देता है; तथा संथारा (शय्यासन) अथवा उपधि पर बैठकर प्रतिक्रमण करता है ।।३६७।।

न करेइ पहे जयणं, तलियाणं तह करेइ परिभोगं ।
चरइ अणुबद्धवासे, सपक्खपरपक्खओ माणे ॥३६८॥

शब्दार्थ : जो मार्ग में चलते समय अचित्तजल-गवेषणादिरूप यतना नहीं रखता, पाँवों में जूते के तलों का उपयोग करता है, और अपने पक्ष के साधु-श्रावकवर्ग में तथा दूसरे पक्ष के अन्य धर्म संप्रदायवालों में अपमान प्राप्त कर वर्षाऋतु में भी विहार करता है ॥३६८॥

संजोयइ अइबहुयं, इंगाल सधूमगं अणट्ठाए ।
भुंजइ रुवबलट्ठा, न धरेइ अ पायपुंछणयं ॥३६९॥

शब्दार्थ : जो साधु स्वाद के लिए अलग-अलग पदार्थों को मिलाता है; अतिमात्रा में आहार करता है, रागबुद्धि से स्वादिष्ट आहार करता है और अमनोज्ञ व रूखा भोजन मुँह बिगाड़कर खाता है । क्षुधावेदनीय अथवा वैयावृत्य आदि के कारण बिना ही अपने रूप और बल को बढ़ाने के लिए विविध पौष्टिक धातु आदि रसायनों का सेवन करता है, तथा जयणा के लिए रजोहरण व पादप्रोंछन भी नहीं रखता ॥३६९॥

अट्ठमछट्ठचउत्थं, संवच्छरचाउमासपक्खेसु ।
न करेइ सायबहुलो, न य विहरइ मासकप्पेणं ॥३७०॥

शब्दार्थ : सुख का तीव्र अभिलाषी जो पासत्थादि साधु सांवत्सरिक पर्व पर अट्ठम तप (तेला) चातुर्मासिक पर्व पर छट्ठ (बेला) और पाक्षिक (पक्खी) दिन पर चउत्थभक्त

(उपवास) आदि तप नहीं करता और न मासकल्प की मर्यादा से नवकल्पी विहार करता है ॥३७०॥

नीयं गिण्हइ पिंडं, एगागिअच्छए गिहत्थकहो ।
पावसुयाणि अहिज्जइ, अहिगारो लोगगहणंमि ॥३७१॥

शब्दार्थ : जो प्रतिदिन एक ही घर से आहार-पानी नियमित ग्रहण करता है, समुदाय में न रहकर अकेला ही रहता है, गृहस्थसंबंधी कथा करता है, पापशास्त्रों-ज्योतिष तथा वैद्यक आदि का अध्ययन करता है तथा लोकरंजन के लिए चमत्कार, कौतुक या लौकिक लोगों की बातों में हाँ में हाँ मिलाकर बड़प्पन प्राप्त करता है; परंतु स्वयं संयम क्रिया करके महत्ता प्राप्त नहीं करता ॥३७१॥

परिभवइ उग्गकारी, सुद्धं मग्गं निगूहए बालो ।
विहरइ सायागरुओ, संजमविगलेसु खित्तेसु ॥३७२॥

शब्दार्थ : और जो मूर्खतावश उग्रविहारी मुनियों की निंदा करता है, उपद्रव करता-कराता है, लोगों के सामने शुद्ध मोक्षमार्ग छिपाता है और जिसमें सुसाधु नहीं विचरते, उस क्षेत्र में सुखशीलता से घूमता है ॥३७२॥

उग्गाइ गाइ हसइ य असंवुडो, सइ करेइ कंदप्पं ।
गिहिकज्जचिंतगो वि य, ओसन्ने देइ गिण्हइ वा ॥३७३॥

शब्दार्थ : जो गला फाड़कर जोर-जोर से चिल्लाकर गीत गाता है, हँसता है, कामोत्तेजक कथाएँ कहता है, गृहस्थों के

गृहस्थसंबंधी कार्यों की चिंता किया करता है और शिथिलाचारी को वस्त्र आदि देता है अथवा उससे लेता है ॥३७३॥

धम्मकहाओ अहिज्जइ, घराघरिं भमइ परिकहंतो य ।
गणणाइपमाणेण य, अइरित्तं वहइ उवगरणं ॥३७४॥

शब्दार्थ : जो केवल लोगों के चित्त को प्रसन्न करने के लिए ही धर्म आदि वैराग्य की कथाएँ पढ़ता रहता है, घर-घर धर्मकथाएँ करता फिरता है । साधुओं के लिए चौदह और साध्वियों के लिए पच्चीस चोलपट्ट आदि उपकरणों की संख्या शास्त्र में कही है; किन्तु प्रमाण से अधिक संख्या में उपकरण संग्रह करके रखता है ॥३७४॥

बारस बारस तिण्णि य, काइयउच्चारकालभूमीओ ।
अंतो बहिं च अहियासि, अणहियासे न पडिलेहे ॥३७५॥

शब्दार्थ : बारह लघुनीति की भूमियाँ, बारह बड़ीनीति की भूमियाँ और तीन कालों में ग्रहण के योग्य तीन भूमियाँ, इस प्रकार उपाश्रय के अंदर और बाहर कुल मिलाकर सताईस स्थंडिल भूमियाँ हैं । यदि साधु में शक्ति हो तो दूर जाना योग्य है और दूर जाने की शक्ति न हो या सहन न हो सके तो नजदीक की भूमि में मलमूत्रादि का उत्सर्ग करना उचित है । मगर जो उस भूमि का उपयोगपूर्वक प्रतिलेखन नहीं करता, उसे पासत्थादि समझना ॥३७५॥

गीयत्थं संविग्गं, आयरिअं मुयइ चलइ गच्छस्स ।
गुरुणो य अणापुच्छा, जं किंचि देइ गिण्हइ वा ॥३७६॥

शब्दार्थ : सूत्रार्थ के विशेषज्ञ और मोक्षमार्ग के अभिलाषी अपने आचार्य-महाराज को जो साधु बिना कारण के छोड़ देता है, गच्छ के प्रतिकूल बोलता है, तथा गुरुमहाराज की आज्ञा के बिना ही दूसरे से वस्त्रादि ले लेता है अथवा दूसरे को दे देता है ॥३७६॥

गुरुपरिभोगं भुंजइ, सिज्जासंथारउवगरणजायं ।
कित्तिय तुमं ति भासइ, अविणीओ गव्विओ लुद्धो ॥३७७॥

शब्दार्थ : जो गुरुमहाराज के उपभोग्य शयनभूमि या शयनकक्ष, तृण, संथारा (शयनासन), कपड़ा, कंबल आदि उपकरणों को स्वयं उपयोग में लेता है और गुरु के बुलाने पर वह अविनय से अभिमान से, विषयादि में लंपट बोलता है, परंतु 'अविनयपूर्वक अभिमान में आकर 'रे तू' आदि तुच्छ शब्दों से बोलता है; 'गुरुदेव' 'आप' भगवन् आदि सम्मान-सूचक शब्दों से नहीं ॥३७७॥

गुरुपच्चक्खाणगिलाण सेहबालाउलस्स गच्छस्स ।
न करेइ नेव पुच्छइ, निद्धम्मो लिंगउवजीवी ॥३७८॥

शब्दार्थ : जो साधु आचार्य, उपाध्याय, गुरुमहाराज, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, बाल-मुनि और वृद्ध साधुओं आदि गच्छसमुदाय का कुछ भी कार्य नहीं करता, और न

दूसरे साधुओं से पूछता भी है कि ''मैं क्या करूँ ? मेरे योग्य कोई सेवा बताइए;' वह साधु धर्म से रहित है और केवल वेष धारण करके अपनी आजीविका चलाने वाला पार्श्वस्थ साधु है ॥३७८॥

पहगमणवसहि-आहार-सुयणथंडिल्लविहिपरिट्ठवणं ।
नायरइ नेव जाणइ, अज्जावट्टावणं चेव ॥३७९॥

शब्दार्थ : जो यतना से मार्ग देखकर चलना, 'निस्सीही पूर्वक' स्वाध्यायस्थान या उपाश्रय में प्रवेश करना, प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना, स्वाध्याय करना, बयालीस दोष रहित आहार लाकर समभाव से खाना, मलमूत्रादि को निर्दोष स्थान पर विवेक से परठना (डालना) अथवा अशुद्ध आहार-पानी, उपकरण आदि परठना; इन सभी साध्वाचारों को जानते हुए भी धर्मबुद्धि रहित होने से आचरण नहीं करता और साध्वियों को धर्म में प्रवृत्त करना नहीं जानता ॥३७९॥

सच्छंदगमण-उट्ठाण-सोयणो, अप्पणेण चरणेण ।
समणगुणमुक्कजोगी, बहुजीवखयंकरो भमइ ॥३८०॥

शब्दार्थ : अपनी इच्छानुसार स्वच्छन्दता से (बड़ों की अनुमति लिये बिना) जाने-आने, सोने, उठने और स्वमति कल्पित आचार से चलने वाला, ज्ञानादि श्रमणगुणों से रहित, मन-वचन-काया का खुलेआम मनमाना उपयोग करने वाला और अनेक जीवों का संहार करने वाला साधु इधर-उधर भटकता रहता है ॥३८०॥

वत्थिव्व वायपुन्नो, परिब्भमइ जिणमयं अयाणंतो ।
थद्धो निव्विन्नाणो, न य पिच्छइ किंचि अप्पसमं ॥३८१॥

शब्दार्थ : भवभ्रमण रोग को मिटाने के लिए औषध के समान जैनधर्म को पाकर भी जो उसे ठीक तरह से नहीं जानता; फिर भी थोड़ा सा ज्ञान पाकर हवा से भरी हुई मशक के समान उछलता फिरता है, अभिमान में चूर होकर अच्छृंखलता से स्वच्छंद भटकता है और विशेष ज्ञान-विज्ञान न होने पर भी उद्धत होकर जगत् में किसी को अपने समान नहीं मानता ॥३८१॥

सच्छंदगमण-उट्ठाण-सोयणो, भुंजए गिहीणं च ।
पासत्थाई ट्ठाणा, हवंति एमाइया एए ॥३८२॥

शब्दार्थ : अपने गुरु को पराधीन व अकेले छोड़कर स्वच्छंदतापूर्वक जो इधर-उधर घूमता-सोता-उठता है; तथा गृहस्थों के बीच में भोजन करता है; ये सब लक्षण पार्श्वस्थादि साधु के हैं ॥३८२॥

जो हुज्ज उ असमत्थो, रोगेण व पिल्लिओ झुरियदेहो ।
सव्वमवि जहाभणियं, कयाइ न तरिज्ज काउं जे ॥३८३॥

सो वि य नियपरक्कमववसायधिईबलं अगूहिंतो ।
मुत्तूण कूडचरियं, जइ जयइ अवस्स जई ॥३८४॥

शब्दार्थ : जो साधु स्वाभाविक रूप से असमर्थ-अशक्त हो, अथवा श्वास, ज्वरादि रोग से पीड़ित हो और जिसका

शरीर लड़खड़ा रहा हो और इस कारण जिनेश्वर-भगवान् कथित संयम-संबंधी सारी क्रियाओं का यथोक्त रूप से आचरण करने में कदाचित् समर्थ न हो; तथापि वह दुर्भिक्ष और रोगादि आफतों के समय में भी शरीरबल और मनोबल को छिपाता नहीं; कपट का आश्रय छोड़कर, चारित्र में यथाशक्ति उद्यम करता रहता है, वही वास्तव में सच्चा साधु संयति कहलाता है ॥३८३-३८४॥

अलसो सढोऽवलित्तो, आलंबणतप्परो अइपमाई ।
एवंठिओ वि मन्नइ, अप्पाणं सुट्ठिओ मि त्ति ॥३८५॥

शब्दार्थ : जो धर्मक्रिया करने में आलसी, मायावी, अभिमानी, गलत आलंबन लेने को तैयार रहता हो, तथा निद्रा विकथादि प्रमाद के दोषों से पूर्ण होने पर भी 'मैं अपनी आत्मा में सुस्थिर संयमी साधु हूँ' इस प्रकार अपने आपको मानता है । ऐसे धर्माचरण मायावी को बाद में पश्चात्ताप करना पड़ता है ॥३८५॥

जोऽवि य पाडेऊणं, मायामोसेहिं खाइ मुद्धजणं ।
तिग्गाममज्झवासी, सो सोयइ कवडखवगु व्व ॥३८६॥

शब्दार्थ : ऐसा कपटी साधु झूठा वचन बोलकर दंभ, द्रोह करने से मायामृषावाद नामक १७ वें पापस्थानक का सेवन कर भोले भाले लोगों को विविध कूटकपट युक्त चेष्टा से आकर्षित करके अपने मिथ्याजाल में फंसा लेता है । ऐसे

व्यक्ति को तीन गाँव के मध्य में रहने वाले कपटक्षपक तापस के सदृश पछताना पड़ेगा ॥३८६॥

एगागी पासत्थो, सच्छंदो ठाणवासि ओसन्नो ।
दुगमाई संजोगा, जह बहुया तह गुरु हुँति ॥३८७॥

शब्दार्थ : १. अपनी स्वच्छंद-मति से एकाकी रहने वाला, २. ज्ञानादि से विमुख (पासत्थ), ३. गुरु की आज्ञा नहीं मानकर स्वच्छंदता से चलने वाला, ४. हमेशा एक ही स्थान पर जमकर रहने वाला और ५. प्रतिक्रमणादि क्रिया में शिथिल रहने वाला इन दोषों के साथ द्विकादिकसंयोग से अर्थात् दो दोष, तीन दोष, चार दोष और पाँच दोष । एक दोष दूसरे दोष के साथ ज्यों-ज्यों जुड़ते जाते हैं, त्यों-त्यों दोषों का गुणाकार होता जाता है । और ऐसा साधु जितने-जितने अधिक दोषों का सेवन करता जाता है, उतना-उतना वह अधिकाधिक विराधक होता जाता है ॥३८७॥

गच्छगओ अणुओगी, गुरुसेवी अनियवासि अणियओ गुणाउत्तो ।
संजोएण पयाणं, संजम-आराहगा भणिया ॥३८८॥

शब्दार्थ : १. गच्छ में रहने वाला, २. सम्यग्ज्ञानादि का हमेशा अभ्यास करने में उद्यमी, ३. गुरु की सेवा करने वाला, ४. अनियतवासी अर्थात् मासकल्पादि नियमानुसार विहार करने वाला और ५. प्रतिक्रमणादि सम्यक् क्रियाकांडों में दत्तचित्त रहने वाला, इन पाँचों पदों (गुण) के संयोग से साधु संयम-

चारित्र का आराधक कहलाता है । इन गुणों में से जिसमें जितने-जितने अधिक-अधिक गुण होते हैं, वह मुनि उतना-उतना अधिकाधिक आराधक होता जाता है ॥३८८॥

निम्मम-निरहंकारा, उवउत्ता नाणदंसणचरित्ते ।
एगक्खित्ते वि ठिया, खविंति पोराणयं कम्मं ॥३८९॥

शब्दार्थ : ममता से रहित, अहंकार रहित, अवबोध रूप ज्ञान में, तत्त्वश्रद्धान रूप दर्शन में और आश्रव का निरोध-संवर ग्रहण-रूप चारित्र में सावधान (उपयोगयुक्त महान् आत्मा) साधु एक क्षेत्र में रहते हुए भी पूर्वजन्म में संचित किये हुए ज्ञानावरणीय आदि पुराने कर्मों का क्षय करते हैं ॥३८९॥

जिय-कोह-माण-माया, जिय-लोभपरीसहा य जे धीरा ।
वुड्ढावासे वि ठिया, खवंति चिरसंचियं कम्मं ॥३९०॥

शब्दार्थ : जो क्रोध-मान और माया को जीत चुके हैं, जो लोभ संज्ञा से रहित हैं और जिन्होंने क्षुधा-पिपासा आदि बाईस परिषहों को जीत लिया है; ऐसे धीर और आत्मबली साधु वृद्धावस्था में एक स्थान पर रहते हुए भी चिरकाल के संचित ज्ञानावरणादि कर्मों को नष्ट कर डालते हैं । श्रीजिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा है कि सदाचारी मुनि किसी विशेष कारण को लेकर एक स्थान पर भी निवास कर सकते हैं ॥३९०॥

पंचसमिया तिगुत्ता, उज्जुत्ता संजमे तवे चरणे ।
वाससयं पि वसंता, मुणिणो आराहगा भणिया ॥३९१॥

शब्दार्थ : पाँच समितियों से युक्त, तीन गुप्तियों से संयम-रक्षा करने वाले, सत्रह प्रकार के अथवा षड्जीवनिकाय की रक्षा रूप संयम का पालन करने वाले, बारह प्रकार के तप करने में उद्यत तथा पाँच महाव्रत रूप क्रिया में सदा सावधान रहने वाले मुनि किसी कारणवश सौ वर्षों तक भी एक ही क्षेत्र में रहे तो भी आराधक है। श्रीजिनेश्वर भगवान् की आज्ञापूर्वक चलने वाले मुनि को एक स्थान पर रहने में कोई दोष नहीं है ॥३९१॥

तम्हा सव्वाणुन्ना, सव्वनिसेहो य पवयणे नत्थि ।
आयं वयं तुलिज्जा, लाहाकंखि व्व वाणियओ ॥३९२॥

शब्दार्थ : ऊपर कही हुई बातों से ज्ञात होता है कि जिनशासन में ऐसा एकान्त विधिनिषेध (सर्वथा ऐसा करना अथवा ऐसा बिल्कुल नहीं करना) नहीं है, क्योंकि जिनशासन स्याद्वादमय है, इसीलिए लाभाकांक्षी वणिक् के समान लाभालाभ का विचारकर करने योग्य कार्य करना और छोड़ने योग्य कार्य छोड़ देना ही इष्ट है ॥३९२॥

धम्मंमि नत्थि माया, न य कवडं आणुवत्तिभणियं वा ।
फुडपागडमकुडिल्लं, धम्मवयणमुज्जयं जाण ॥३९३॥

शब्दार्थ : साधुधर्म में माया है ही नहीं; क्योंकि माया और धर्म दोनों में परस्पर विरोध है। धर्म में दूसरे को ठगना

भी नहीं होता और कपट से लोकरंजन के लिए मायायुक्त वचन भी नहीं होते । अय भाग्यशाली ! धर्मवचन तो स्पष्ट अक्षरों वाले, प्रकट रूप और माया रहित, सरल और मोक्ष के कारण हैं; इसे तू भलीभांति समझ ले ॥३९३॥

न वि धम्मस्स भडक्का, उक्कोडा वंचणा य कवडं वा ।
निच्छम्मो किर धम्मो, सदेवमणुयासुरे लोए ॥३९४॥

शब्दार्थ : और इस शुद्ध धर्म की साधना में कोई आडंबर नहीं है; या कोई बनावट-दिखावट नहीं है, तथा "यदि तू मुझे अमुक वस्तु दे तो मैं धर्म करुँ" इस प्रकार की सौदेबाजी (तृष्णा) भी नहीं है;[१] दूसरों को ठगने के लिए भी यह धर्म नहीं हैं परंतु विमानवासी देव, मर्त्यलोकवासी मनुष्य और पातालवासी असुरों सहित तीनों जगत् में धर्म को सर्वत्र निष्कपट निर्दोष ही श्री तीर्थंकर भगवान् ने बताया है ॥३९४॥

भिक्खू गीयमगीए, अभिसेए तह य चेव रायणिए ।
एवं तु पुरिसवत्थुं, दव्वाइ चउव्विहं सेसं ॥३९५॥

शब्दार्थ : कोई साधु स्थानांग-समवायांग व छेदसूत्रों का जानकार गीतार्थ हो, अथवा कोई इन शास्त्रों से अनभिज्ञ

१. वर्तमान में पत्रिका में सोने की चेन, अंगुठी आदि का प्रलोभन छपवाकर धर्म करवाया जाता है । क्या उससे धर्म होता है ? चतुर्विध संघ के लिए विचारणीय है ॥

अगीतार्थ हो, कोई उपाध्याय या आचार्य हो और कोई स्थविरादि या रत्नाधिक होते हैं; उन सभी को इसी तरह ज्ञानादि गुण की दृष्टि से पुरुषार्थ का विचार करना चाहिए और अन्य पदार्थों का भी द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव, इन चारों की अपेक्षा से विचार करना चाहिए । अर्थात्-लाभालाभ का विचार करने वाले को पहले चारों ओर से सभी पहलुओं को लेकर किसी वस्तु के विषय में विचार करना चाहिए ॥३९५॥

चरणाइयारो दुविहो, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलगुणे छट्ठाणा, पढमो पुण नवविहो तत्थ ॥३९६॥

शब्दार्थ : चारित्राचार के दो भेद हैं-मूलगुण और उत्तरगुण । इन दोनों में से भी गुणविषयक चारित्राचार के छह भेद हैं-१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य, ५. मूर्च्छारहित अपरिग्रह और ६. रात्रि भोजन का त्याग । उसमें प्रथम अहिंसा महाव्रत में पाँच स्थावर (पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और चार त्रस-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय) इन नौ प्रकार के जीवों की हिंसा का त्रिकरण त्रियोग से त्याग होता है ॥३९६॥

सेसुक्कोसो मज्झिमं जहन्नओ, वा भवे चउद्धा उ ।
उत्तरगुणणेगविहो, दंसणनाणेसु अट्ठट्ठ ॥३९७॥

शब्दार्थ : शेष सत्यादि पाँच मूलगुण उत्कृष्ट, मध्यम और

जघन्य के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार-चार प्रकार के हैं और उत्तरगुण के तो पिंडविशुद्धि आदि अनेक भेद हैं । दर्शन (सम्यक्त्व) के और ज्ञान के आठ-आठ भेद प्रसिद्ध हैं । सर्वज्ञकथित समस्त सदाचार को अच्छी तरह जानकर अतिचारादि दोष रहित चारित्र की आराधना करना ही श्रमणत्व का सार है । अन्यथा ज्ञानशून्य साधक की करणी अंधे की तरह अनर्थकारी है ।।३९७।।

जं जयइ अगीयत्थो, जं च अगीयत्थनिस्सिओ जयइ ।
वट्टावेइ य गच्छं, अणंत संसारिओ होइ ।।३९८।।

शब्दार्थ : जो स्थानांगादि तथा छेदसूत्रों के रहस्य को नहीं जानता, वह अगीतार्थ, यदि तप, जप, संयम आदि क्रिया में उद्यम करता है अथवा अगीतार्थ की निश्रा में तप-जपादि क्रिया करता है अथवा स्वयं अगीतार्थ होने पर भी यदि साधुसाध्वी रूप गच्छ को तप-संयम आदि धर्म-क्रियाओं व अनुष्ठानों में प्रेरणा करता है तो वह अगीतार्थ अनंतसंसारी होता है । गीतार्थ मुनि का अथवा उसकी निश्रा में रहकर किया हुआ क्रियानुष्ठान ही मोक्षफल देने वाला हो सकता है ।।३९८।।

कह उ जयंतो साहू, वट्टावेई य जो उ गच्छं तु ।
संजमजुत्तो होउं, अणंतसंसारिओ होइ ? ।।३९९।।

शब्दार्थ : पूज्य गुरुदेव ! यदि कोई साधु तप, जप और संयम में स्वयं उद्यम करता है और गच्छ में उसकी प्रेरणा करता है; इतना होते हुए भी वह संयमयुक्त अगीतार्थ साधु अनंतसंसारी कैसे हो जाता है ? उसे अनंतसंसारी क्यों कहा गया ? ॥३९९॥

दव्वं खित्तं कालं, भावं पुरिसपडिसेवणाओ य ।
न वि जाणइ अग्गीओ, उस्सग्गववाइयं चेव ॥४००॥

शब्दार्थ : हे शिष्य ! स्थानांगादि सूत्रों तथा उत्सर्ग-अपवाद-व्यवहार-प्रायश्चित्त आदि के निर्णायक छेदसूत्रों का रहस्य अध्ययन न किया हुआ अगीतार्थ साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को सम्यक् प्रकार से नहीं जाना जा सकता; इस मनुष्य ने स्वेच्छा से पापसेवन किया है या परवश से पाप किया है ? इसे भी वह नहीं जान सकता; उत्सर्ग (अर्थात् सामर्थ्य होने पर शास्त्र में कहे अनुसार ही क्रियानुष्ठान करना) और अपवाद (अर्थात् रोगादि कारणों के होने पर यतनापूर्वक अल्पदोष का सेवन करना) इस व्यवहार को भी वह नहीं जानता; तो फिर उस अगीतार्थ की संयम-क्रिया या धर्मानुष्ठान कैसे सफल हो सकते हैं ? ॥४००॥

जहट्ठियदव्व न याणइ, सच्चित्ताचित्तमीसियं चेव ।
कप्पाकप्पं च तहा, जुग्गं वा जस्स जं होइ ॥४०१॥

शब्दार्थ : और अगीतार्थ साधु द्रव्य स्वरूप को यथास्थित यथार्थ रूप से नहीं जानता; और न वह सजीव, अजीव और मिश्रद्रव्य को भी निश्चयपूर्वक जानता है; यह वस्तु संयमी के लिए कल्प्य है या अकल्प्य है ? इसे भी वह नहीं जानता; और कौन सी वस्तु बाल-ग्लानादिमुनि के योग्य है, कौन सी नहीं; इसे भी वह नहीं जानता तो बताओ, उसके चारित्र की सिद्धि कैसे हो सकती है ? ॥४०१॥

जहट्ठियखित्तं न याणइ, अद्धाणे जणवए अ जं भणियं ।
कालं पि य नवि जाणइ, सुभिक्खदुभिक्ख जं कप्पं ॥४०२॥

शब्दार्थ : अगीतार्थ मुनि संयमानुकूल क्षेत्र को यथास्थित यथार्थ रूप से नहीं जानता; विहार करते हुए मार्ग में वसतिशून्य (निर्जन) स्थान में अथवा जनाकुल देश में जो विधि शास्त्रों में बतायी है, उसे भी वह नहीं जानता, तथा सुभिक्ष काल और दुर्भिक्ष काल में जिस वस्तु को कल्प्य या जिसको अकल्प्य कहा गया है, उसे भी अगीतार्थ नहीं जानता ॥४०२॥

भावे हट्ठगिलाणं, नवि जाणइ गाढऽगाढकप्पं च ।
सहुअसहुपुरिसं तु, वत्थुमवत्थुं च नवि जाणे ॥४०३॥

शब्दार्थ : भाव से-यह साधु हृष्टपुष्ट है, इसीलिए उसे यह वस्तु देना योग्य है, और यह ग्लान (रोगी) है इसीलिए इसे

यह वस्तु ही देना योग्य है, इसे वह नहीं जानता। विशिष्ट कार्य आ पड़ने पर अमुक प्रकार का व्यवहार करना योग्य है, और स्वाभाविक कार्य में अमुक व्यवहार ही करना योग्य है; यह भी वह नहीं जानता; और यह साधक समर्थ शरीर वाला है या असमर्थ शरीर वाला ? अथवा यह समर्थ साधु (आचार्यादि) है, यह असमर्थ (सामान्य साधु है ?) इस प्रकार के वस्तुस्वरूप को भी वह नहीं जानता ॥४०३॥

पडिसेवणा चउद्धा, आउट्टिपमायदप्पकप्पे य ।
न वि जाणइ अग्गीओ, पच्छित्तं चेव जं तत्थ ॥४०४॥

शब्दार्थ : प्रतिसेवना अर्थात् निषिद्धवस्तु का आचरण चार प्रकार से होता है-१. जानबूझकर इरादतन पाप करना, २. प्रमादवश पाप करना, ३. घमंड से अहंकारवश पाप करना और ४. किसी गाढ़ कारण को लेकर पाप करना। पापसेवन के इन चार प्रकारों (आकुट्टि, प्रमाद, दर्पिक, कल्पिक) के शास्त्रोक्त रहस्य को अगीतार्थ नहीं जानता और उसके योग्य प्रायश्चित-विधान को भी वह नहीं जानता ॥४०४॥

जह नाम कोइ पुरिसो, नयणविहूणो अदेसकुसलो य ।
कंताराडविभीमे, मग्गपणट्ठस्स सत्थस्स ॥४०५॥

इच्छइ य देसियत्तं, किं सो उ समत्थ देसियत्तस्स ? ।
दुग्गाइ अयाणंतो, नयणविहूणो कहं देसे ॥४०६॥ युग्मम्

शब्दार्थ : जैसे कोई नेत्रविहीन अंधा मार्ग को न जानने वाले मनुष्यों को महाभयंकर अटवी में मार्ग भूलने पर बताना चाहे तो क्या वह अंधा मार्ग बताने में समर्थ हो सकता है ? कदापि नहीं । क्योंकि वह नेत्रहीन व्यक्ति भला ऊबड़ खाबड़ स्थान को नहीं जानने से कैसे बता सकता है? ॥४०५-४०६॥

एवमगीयत्थो वि हु, जिणवयणपईवचक्खुपरिहीणो ।
दव्वाइं अयाणंतो, उस्सग्गववाइयं चेव ॥४०७॥

शब्दार्थ : इसी तरह जो जिनेश्वर भगवान्-कथित वचन-दीपक रूपी नेत्र से रहित अगीतार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वस्तुओं को और उत्सर्ग तथा अपवाद आदि मार्ग को नहीं जानने से दूसरे को मार्ग कैसे बता सकता है ? कथमपि नहीं बता सकता ॥४०७॥

कह सो जयउ अगीओ ? कह वा कुणउ अगीयनिस्साए ? ।
कह वा करेऊ गच्छं ? सबालवुड्ढाउलं सो उ ॥४०८॥

शब्दार्थ : उपर्युक्त अगीतार्थ अपना आत्महित भी कैसे कर सकता है ? अथवा वह अगीतार्थ अनेक बाल, ग्लान और वृद्धादि से युक्त विशाल साधु-गच्छ को संयम-पालन में प्रेरणा कैसे कर सकेगा ? ॥४०८॥

सुत्ते य इमं भणियं, अप्पच्छित्ते य देइ पच्छित्तं ।
पच्छित्ते अइमत्तं, आसायण तस्स महईओ ॥४०९॥

शब्दार्थ : सूत्र (शास्त्र) में इस प्रकार कहा है कि जो अगीतार्थ प्रायश्चित्त के अयोग्य निर्दोष को तपस्यादि प्रायश्चित्त (दंड) देता है और प्रायश्चित्त के योग्य को प्रायश्चित्त नहीं देता अथवा न्यूनाधिक प्रायश्चित्त देता है तो प्रायश्चित्त देने वाले अगीतार्थ का भगवदाज्ञाभंग रूप महा-आशातना-विराधना होती है ॥४०९॥

आसायणमिच्छत्तं, आसायणवज्जणाउ सम्मत्तं ।
आसायणानिमित्तं, कुव्वइ दीहं च संसारं ॥४१०॥

शब्दार्थ : जिनाज्ञाभंग रूप आशातना करना मिथ्यात्व कहलाता है और आशातना से बचकर जिनाज्ञा-पालन करने को सम्यक्त्व कहा जाता है। जिनाज्ञा की यत्नपूर्वक आराधना करने वाला सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति करता है; परंतु स्वेच्छाचारी जिन-आज्ञा का भंगकर भयंकर आशातना करने वाला होता है, वह चिरकालपर्यंत चारगति रूप संसार में परिभ्रमण करता है ॥४१०॥

एए दोसा जम्हा, अगीयंजयंतस्सऽगीयनिस्साए ।
वट्टावय गच्छस्स य, जो य गणं देइऽगीयस्स ॥४११॥

शब्दार्थ : ऊपर बताये कारणों से तप, जप, संयम में यतना करते हुए अगीतार्थ को भी पूर्वोक्त दोष लगते हैं, अगीतार्थ की निश्रा में रहकर तप, जप, संयम करने वाले को

भी दोष लगता है और गच्छ को प्रेरणा करने वाले अगीतार्थ को भी दोष लगता है तथा यदि गीतार्थ, या अगीतार्थ (शास्त्ररहस्य से अनभिज्ञ) को आचार्यपद का भार सौंपा जाय तो देने वाले को ये पूर्वोक्त दोष लगते हैं। और जो अगीतार्थ आचार्यपद लेता है उसे भी ये दोष लगते हैं ॥४११॥

अबहुस्सुओ तवस्सी, विहरिउकामो अजाणिऊण पहं ।
अवराहपयसयाइं, काऊण वि जो न याणाइ ॥४१२॥
देसियराइयसोहिय, वयाइयारे य जो न याणेइ ।
अविसुद्धस्स न वड्डइ, गुणसेढी तित्तिया ठाइ ॥४१३॥

युग्मम्

शब्दार्थ : कोई बहुश्रुत न हो, किन्तु लंबी तपस्या करने वाला हो; मगर यदि मोक्षमार्ग को जाने बिना विहार करना चाहता है तो वह सैकड़ों अपराध (दोष) करेगा। मगर वह अल्पश्रुत होने से स्वयं उन अपराधों को जान नहीं पायेगा तो फिर वह आत्महित कैसे कर सकेगा ? और अल्पश्रुत होने के कारण वह दैवसिक और रात्रिक अतिचारों की शुद्धि और मूल-गुणों के अतिचारों को नहीं जानता; अतः उसकी शुद्धि नहीं हो सकेगी। और जिसके पापों की शुद्धि नहीं होती वह गुणश्रेणी (ज्ञानादि गुणों की परंपरा) में आगे नहीं बढ़ता; जहाँ का तहाँ ही यथा पूर्वस्थिति में रहता है ॥४१२-४१३॥

अप्पागमो किलिस्सइ, जइ वि करेइ अइदुक्करं तु तवं ।
सुंदरबुद्धीइ कयं, बहुयं पि न सुंदरं होइ ॥४१४॥

शब्दार्थ : अल्पश्रुत साधु चाहे सुबुद्धि और सद्भावना से मासक्षमणादि अतिदुष्कर तप करे और संयम-आराधना करे, फिर भी वह काया को ही कष्ट देता है । क्योंकि सुबुद्धि से किया हुआ बहुत-सा आचरण भी सुंदर नहीं होता ।[1] वस्तुतः शास्त्रज्ञानरहित स्वच्छन्दमति से की हुई कठोर से कठोर क्रिया भी मोक्षफल नहीं दे सकती । वह एक प्रकार का अज्ञानकष्ट ही है ॥४१४॥

अपरिच्छियसुयनिहसस्स, केवलमभिन्नसुत्तचारिस्स ।
सव्वुज्जमेण वि कयं, अन्नाणतवे बहुं पडइ ॥४१५॥

शब्दार्थ : जिस साधु ने आगमों का निष्कर्ष नहीं जाना; वह टीका आदि पंचांगी के ज्ञान के बिना केवल सूत्र ही समझकर केवल श्रुत-अक्षर के अनुसार ही चलता है तो वह चाहे कितने उद्यम से क्रियानुष्ठानादि करता है तो भी वह अज्ञानकष्ट रूप ही गिना जाता है ॥४१५॥

जह दाइयम्मि वि पहे, तस्स विसेसे पहस्सऽयाणंतो ।
पहिओ किलिस्सइ च्चिय तह, लिंगायारसुयमितो ॥४१६॥

शब्दार्थ : जैसे किसी मार्ग के जानकार पुरुष द्वारा किसी

---

१. जिणाणाए कुणं ताणं नूणं निव्वाण कारणं । सुंदरंऽपि सबुद्धिए, सव्वं भवनिबंधणं ॥

पथिक को मार्ग बताये जाने पर भी 'वह मार्ग दाएँ हाथ की ओर जाता है या बाएँ ? इस प्रकार मार्ग का विशेष स्पष्ट स्वरूप नहीं जानने से वह पथिक अवश्य ही रास्ता भूलकर खेद करता है। वैसे ही आगम का रहस्य जाने बिना केवल सूत्र के अक्षरमात्र को जानने वाला तथा अपनी बुद्धि से तप-क्रियानुष्ठानादि करने वाला यह साधु भी पथ विशेषज्ञ न होने से उस पथिक की तरह अत्यंत दुःखी होता है ॥४१६॥

कप्पाकप्पं एसणमणेसणं, चरणकरणसेहविहिं ।
पायच्छित्तविहिं पि य, दव्वाइगुणेसु अ समग्गं ॥४१७॥
पव्वावणविहिमुट्ठावणं च, अज्जाविहिं निरवसेसं ।
उस्सग्गववायविहिं, अजाणमाणो कहिं ? जयओ ॥४१८॥
युग्मम्

शब्दार्थ : कल्प्य-अकल्प्य को, आहार एषणीय-अनैषणीय को, चरण (चारित्र) के ७० भेदों व करण के ७० भेदों को, नवदीक्षित को दी जाने वाली शिक्षाविधि को, दस प्रकार के प्रायश्चित्तों की विधि को, तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की तथा उत्तम और मध्यम गुणों की सम्पूर्ण विधि से अनभिज्ञ, वैराग्ययुक्त को दीक्षा देने की विधि को, महाव्रत का उच्चारण करने की बड़ी दीक्षा की विधि को; साध्वी की विधि और शुद्ध आचार-पालन वाले उत्सर्ग मार्ग एवं किसी कारण विशेष में आपत्ति के समय आचरणीय अपवाद मार्ग

की विधि को संपूर्ण रूप से नहीं जानने से अल्पश्रुत वेषधारी साधु क्या किसी तरह मोक्ष-मार्ग में आत्महित सिद्ध कर सकता है ? कदापि नहीं ॥४१७-४१८॥

सीसायरिकमेण य, जणेण गहियाइं सिप्पसत्थाइं ।
नज्जंति बहुविहाइं, न चक्खुमित्ताणुसरियाइं ॥४१९॥

शब्दार्थ : ऐसा देखा जाता है कि लौकिक विद्या पढ़ने वाला शिष्य भी विनयपूर्वक कलाचार्यादि को प्रसन्न करके उनसे विद्या ग्रहण करता है । इस प्रकार के विनय के क्रम से अनेक प्रकार के शिल्प व्याकरण आदि शास्त्रों को वह अच्छी तरह से ग्रहण कर सकता है; अर्थात् विनयपूर्वक बहुमान से ग्रहण किया हुआ शास्त्र सफल होता है । परंतु अपनी स्वच्छंदबुद्धि से गुरु का विनय किये बिना अपने आप शास्त्र को देखने या पढ़ने से शास्त्रज्ञान फलीभूत नहीं होता । कहने का मतलब यह है कि जब अपने आप सीखे हुए लौकिक-शास्त्र भी सीखने वाले को फलीभूत नहीं होते तो फिर लोकोत्तर शास्त्रों के लिए तो कहना ही क्या ? ॥४१९॥

जह उज्जमिउं जाणइ, नाणी तव-संजमे उवायविऊ ।
तह चक्खुमित्तदरिसण, सामायारी न याणंति ॥४२०॥

शब्दार्थ : उपाय को जानने वाला ज्ञानी जैसे तप और संयम में उद्यम करना जानता है, अर्थात् ज्ञानी पुरुष सिद्धांत ज्ञान के कारण शुद्ध उद्यम करता है; उसी तरह आँखों से

देखने मात्र से यानी क्रियानुष्ठानादि करने वालों के पास में रहने मात्र से उनकी देखादेखी जो आचरण करता है वह शुद्ध आचरण नहीं जानता । स्वयं सिद्धांत ज्ञान प्राप्त करके उससे जैसा जानता है, वैसा दूसरे को करते हुए देखने मात्र से भी वह नहीं जान सकता । वह मनुष्य आत्म-कल्याण का वास्तविक उपाय जाने बिना किस तरह चित्त-शुद्धि रूप सफल उद्यम कर सकता है ॥४२०॥

सिप्पाणि य सत्थाणि य, जाणंतो वि न य जुंजई जो उ ।
तेसिं फलं न भुंजइ, इअ अजयंतो जई नाणी ॥४२१॥

शब्दार्थ : शिल्प, कला और व्याकरण आदि शास्त्रों को जानता हुआ भी जो व्यक्ति जब तक उसका सदुपयोग (प्रयोग) नहीं करता तब तक वह इन शिल्पादि से होने वाला धनलाभादि फल प्राप्त नहीं कर सकता । उसी तरह ज्ञानवान साधु प्रमादवश शास्त्र विहित संयम-क्रिया में उद्यम नहीं करता तो उसका ज्ञान निष्फल है, वह मोक्षफल कैसे प्राप्त कर सकता है ? ॥४२१॥

गारवतियपडिबद्धा, संजमकरणुज्जमंमि सीयंता ।
निग्गंतूण गणाओ, हिंडंति पमायरन्नंमि ॥४२२॥

शब्दार्थ : रसगौरव, ऋद्धिगौरव और सातागौरव में आसक्त रहने वाला और ६-जीवनिकाय के रक्षण रूप संयम-अनुष्ठान के उद्यम से या पुरुषार्थ करने से जो कतराता

है, या सुस्त है वह साधु गच्छ से निकलकर विषय-कषाय-विकथादि दोष रूपी विघ्नों से परिपूर्ण प्रमाद रूपी अरण्य में स्वेच्छा से परिभ्रमण करता है ॥४२२॥

नाणाहिओ वरतरं, हीणो वि हु पवयणं पभाविंतो ।
न य दुक्करं करिंतो, सुट्ठ वि अप्पागमो पुरिसो ॥४२३॥

शब्दार्थ : कोई साधक चारित्र (क्रिया) पालन में हीन होने पर भी निश्चयनय की दृष्टि से शुद्ध प्ररूपणा से जिनशासन की प्रभावना करता है; तो वह बहुश्रुत पुरुष श्रेष्ठ है; परंतु भलीभांति मासक्षमणादि दुष्कर तपस्या करने वाला अल्पश्रुत पुरुष श्रेष्ठ नहीं है । अर्थात् क्रियावान होने पर भी ज्ञानहीन पुरुष अच्छा नहीं है ॥४२३॥

नाणाहियस्स नाणं, पुज्जई नाणापवत्तए चरणं ।
जस्स पुण दुण्ह इक्कं पि, नत्थि तस्स पुज्जए काइं?॥४२४॥

शब्दार्थ : ज्ञान से पूर्ण पुरुष का ज्ञान पूजा जाता है; क्योंकि ज्ञानयोग से चारित्र की प्राप्ति होती है, परंतु जिस पुरुष के जीवन में ज्ञान या चारित्र में से एक भी गुण न हो, उस पुरुष की क्या पूजा हो सकती है ? कुछ भी नहीं होती ॥४२४॥

नाणं चरित्तहीणं, लिंगग्गहणं च दंसणविहीणं ।
संजमहीणं च तवं, जो चरइ निरत्थयं तस्स ॥४२५॥

शब्दार्थ : चारित्र (क्रिया) से रहित ज्ञान निरर्थक है; सम्यग्दर्शन रहित साधुवेष निष्फल है और छ्जीवनिकाय की रक्षा रूप चारित्र से रहित तपश्चरण निष्फल है । उपर्युक्त तीनों से रहित व्यक्ति का मोक्षसाधन निरर्थक है ॥४२५॥

जहा खरो चंदणभारवाही,
भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।
एवं खु नाणी चरणेण हीणो,
नाणस्स भागी न हु सुग्गईए ॥४२६ ॥

शब्दार्थ : जैसे गधा केवल चंदन के बोझ को उठाने वाला है । वह चंदन के बोझ को ही ढोता है; परंतु चंदन की सुगंध विलेपन-शीतलतादि का हिस्सेदार नहीं होता, उसी तरह चारित्र (क्रिया) शून्य ज्ञानी भी सिर्फ ज्ञान का ही बोझ दिमाग में रखता है, वह जगत् में सिर्फ ज्ञानी ही कहलाता है, परंतु चारित्रशून्य होने से मोक्ष रूप सुगति (ज्ञान परिमल) का सुख प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिए क्रिया सहित ज्ञान अथवा ज्ञानयुक्त चारित्र हो, यही श्रेष्ठ है, वही आराधना मोक्ष का अमोध उपाय है । इसी उपाय से पूर्व महापुरुषों ने आत्मसाधना की है ॥४२६॥

संपागडपडिसेवी, काएसु वएसु जो न उज्जमइ ।
पवयणपाडणपरमो, सम्मत्तं पेलवं (कोमलं) तस्स ॥४२७॥

शब्दार्थ : जो पुरुष लोक समक्ष निःशंक, प्रकट रूप में पाप का आचरण करता है, छह जीवनिकाय की रक्षा करने में और ग्रहण किये पाँच महाव्रतों का पालन करने में उपदेश करता है, प्रमाद का सेवन करता है तथा जिनशासन की लघुता (बदनामी) करवाता है उसका सम्यक्त्व तथ्यहीन जानना अर्थात् उसको मिथ्यात्वी ही जानना ॥४२७॥

चरणकरणपरिहीणो, जइ वि तवं चरइ सुट्ठ अइगुरुअं ।
सो तिल्लं व किणंतो, कंसिय बुद्धो मुणेयव्वो ॥४२८॥

शब्दार्थ : चरण अर्थात् महाव्रतादि के आचरण (मूलगुण) से और करण अर्थात् आहारशुद्धि आदि उत्तरगुण से रहित कोई साधक एक महीने के उपवास आदि कठोर तपस्या भलीभांति करे तो भी वह विचारमूढ़ केवल कायक्लेश करता है । अर्थात् दुष्कर तपस्या करते हुए अहिंसादि महाव्रतों का पालन करना, चित्त की शुद्धि के लिए शास्त्रविहित मार्ग का सेवन करने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है । ऐसी संयमयुक्त तपस्या ही महान् लाभदायिनी होती है । उसके बिना ज्ञानरहित कोरी तपस्या क्लेश रूप ही होती है । जैसे बोद्र गाँव का निवासी मूर्ख दर्पण से भर-भर कर तिल बेचता और बदले में उसी दर्पण से भरकर तेल ले लेता था । इससे उसे लाभ के बजाय घाटा ही ज्यादा उठाना

पड़ा । उसने बहुत तिलों की हानि उठाई । उसी तरह प्रमादी मुनि अपने दुष्कर तप-संयम के बदले में चारित्र में थोड़ी-सी शिथिलता लाकर बहुत बड़ा नुकसान (उत्कृष्टफल की हानि) कर बैठता है; यही इस गाथा का आशय है ॥४२८॥

छज्जीवनिकायमहव्वयाण, परिपालणाए जइधम्मो ।
जइ पुण ताइं न रक्खइ, भणाहि को नाम सो धम्मो ? ॥४२९॥

शब्दार्थ : पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन षड् जीवनिकायों की आत्मवत् रक्षा करने से और प्राणातिपात विरमणादि पाँच महाव्रतों का यथाविधि परिपालन करने से ही साधुधर्म सफल होता है । परंतु जो उन जीवनिकायों की रक्षा व पाँच महाव्रतों का पालन नहीं करता । तो भला बताओ वह कैसे धर्म हो सकता है ? जीवरक्षा और महाव्रतपालन के बिना साधुधर्म नहीं कहलाता ॥४२९॥

छज्जीवनिकायदयाविवज्जिओ, नेव दिक्खिओ न गिही ।
जइधम्माओ चुक्को, चुक्कइ गिहिदाणधम्माओ ॥४३०॥

शब्दार्थ : षड्जीवनिकाय की दया से रहित केवल वेषधारी दीक्षित साधु नहीं कहलाता है और सिर मुंडा हुआ होने से उसे गृहस्थ भी नहीं कहा जा सकता । वह साधुधर्म से भी भ्रष्ट हुआ और गृहस्थ के योग्य दानधर्म से भी भ्रष्ट

हुआ है; क्योंकि उसका दिया हुआ दान भी शुद्ध संयमी के लिए कल्पनीय नहीं होता ॥४३०॥

सव्वाओगे जह कोइ, अमच्चो नरवइस्स धित्तूणं ।
आणाहरणे पावइ, वह-बंधण-दव्वहरणं च ॥४३१॥

शब्दार्थ : जैसे कोई प्रधानमंत्री राजा की कृपा से समस्त अधिकारों को पाकर बाद में उस राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता है तो उसे दंड आदि प्रहार, लोहे की जंजीर से बंधन में डालने तथा द्रव्य आदि सर्वस्व छीने जाने की सजा मिलती है और अंत में उसे मृत्यु का वरण भी करना पड़ता है ॥४३१॥

तह छक्कायमहव्वयसव्वनिवित्तीउ गिण्हिऊण जई ।
एगमवि विराहंतो, अमच्चरन्नो हणइ बोहिं ॥४३२॥

शब्दार्थ : उसी तरह षड्जीवनिकायरक्षा और पंचमहाव्रत संबंधी सर्वथा निवृत्तिरूप संयम ग्रहण करके उच्चाधिकार रूप साधु पद प्राप्त करके जो एक भी जीव की अथवा एक भी महाव्रत की विराधना करता है, वह देवाधिदेव श्री तीर्थंकर परमात्मा के द्वारा प्रदत्त सम्यक्त्व-महारत्न का विनाश करता है । अर्थात्-जिनाज्ञा का भंग करने से सम्यक्त्व का नाश करके वह महाविडंबना का भागी होता है और उससे वह अनंतसंसारी बनता है ॥४३२॥

तो हयबोही य पच्छा, कयावराहाणुसरिसमियममियं ।
पुणवि भवोयहिपडिओ, भमइ जरामरणदुग्गंमि ॥४३३॥

शब्दार्थ : सम्यक्त्व-रत्न का नाश करने के बाद वह मुनि जिनाज्ञा भंग रूप अपराध से इस जन्म में तो सम्मान हीन जीवन व्यतीत करने के रूप में प्रत्यक्ष फल प्राप्त करता ही है, बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख भी पाता है, मृत्यु के बाद भी अनंतकाल तक संसार समुद्र में परिभ्रमण रूप फल (दुःख) प्राप्त करता है ॥४३३॥

जइयाऽणेणं चत्तं, अप्पाणयं नाणदंसणचरित्तं ।
तइया तस्स परेसुं, अणुकंपा नत्थि जीवेसु ॥४३४॥

शब्दार्थ : जिस अभागे जीव ने अपने आत्महित कारक ज्ञान दर्शन-चारित्र का त्याग कर दिया, समझ लो, उस जीव को दूसरे जीवों पर अनुकंपा नहीं है । जो अपनी आत्मा का हितकर्ता नहीं बनता, वह दूसरों का हितकर्ता कैसे हो सकता है ? अपनी आत्मा पर जिसकी दया हो उसीकी दूसरे जीवों पर दया हो सकती है । अतः आत्मदया ही परदया है ॥४३४॥

छक्कायरिऊण अस्संजयाण, लिंगावसेसमित्ताणं ।
बहुअस्संजमपवहो, खारो मयलेइ सुट्ठयरं ॥४३५॥

शब्दार्थ : षड्जीवनिकाय की विराधना (हिंसा) करने वाले षट्काय के शत्रु हैं, वे मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों

को निरंकुश छोड़ने वाले सिर्फ वेश धारण किये फिरने वाले साधु हैं। ऐसे असंयमी साधक अत्यंत असंयम (अनाचीर्ण)-रूप पाप के प्रवाह में क्षार (जले हुए तिल) के समान अपनी और दूसरे की आत्मा को पूरी तरह से मलिन बना देते हैं ॥४३५॥

किं लिंगविड्डरीधारणेण ? कज्जम्मि अट्ठिए ठाणे ।
राया न होइ सयमेव, धारयं चामराडोवे ॥४३६॥

शब्दार्थ : जैसे श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठने से या हाथी-घोड़े आदि पर बैठने से, छत्र-चामर के आडंबर धारण करने से ही कोई राजा नहीं कहलाता; उसी तरह संयमरहित पुरुष केवल साधुवेष धारण करने से ही साधु नहीं कहलाता। इसीलिए गुण के बिना साधुवेश का आडंबर व्यर्थ है और वह केवल उपहास का पात्र बनता है ॥४३६॥

जो सुत्तत्थविणिच्छियकयागमो मूलउत्तरगुणोहं ।
उव्वहइ-सयाऽखलिओ, सो लिक्खइ साहूलिक्खंमि ॥४३७॥

शब्दार्थ : जिसने सूत्र और कार्य का असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिसने आगमों के रहस्य को जान लिया है और जो निरंतर अतिचार रहित मूल-गुणों और उत्तर-गुणों के परिवार को सावधानी से धारण किये हुए है; वही साधु साधुओं की गिनती में आता है ॥४३७॥

बहुदोससंकिलिट्ठो, नवरं मइलेइ चंचलसहावो ।
सुट्ठु वि वायामिंतो, कायं न करेइ किंचि गुणं ॥४३८॥

शब्दार्थ : राग-द्वेष रूपी अनेक दोषों से भरा हुआ, दुष्टचित्त, चंचल स्वभावी और विषयादि में लुब्ध साधु परिषह आदि सहकर शरीर को अत्यंत कष्ट देता है; अगर उस कायकष्ट से वह कर्मक्षय रूप आत्महित जरा भी नहीं करता; उल्टे, अपनी आत्मा को मलिन बनाता है ॥४३८॥

केसिं चि वरं मरणं, जीवियमन्नेसिं उभयमन्नेसिं ।
दद्दरदेविच्छाए, अहियं केसिं चि उभयं पि ॥४३९॥

शब्दार्थ : इस जगत् में कई जीवों का मरना ही अच्छा है, कईयों का जीना अच्छा है, कितने ही जीवों का जीना और मरना दोनों अच्छे हैं और कइयों का मरना और जीना दोनों दुःखदायी है । इसका विस्तृत वर्णन निम्नोक्त दर्दुरांकदेव की कथा से जानना ॥४३९॥

केसिंचि य परो लोगो, अन्नेसिं इत्थ होइ इहलोगो ।
कस्स वि दुन्नवि लोगा, दोऽवि हया कस्सई लोगा ॥४४०॥

शब्दार्थ : कई जीवों का परलोक हितकारी होता है इहलोक नहीं; कईयों का इहलोक हितकारी होता है, परलोक नहीं । किसी पुण्यशाली आत्मा के दोनों ही लोक हितकारी होते हैं और किसी-किसी पापकर्मी जीव के दोनों ही लोक

अहितकर व दुःखदायी होते हैं । इस बात का तात्पर्य भगवान् महावीर के समवसरण में चार जनों को आई हुई छींक के वृत्तांत से समझ लेना ॥४४०॥

छज्जीवकायविरओ, कायकिलेसेहिं सुट्ठु गुरुएहिं ।
न हु तस्स इमो लोगो, हवइ तस्सेगो परे लोगो ॥४४१॥

शब्दार्थ : षड्जीवनिकाय की विराधना से विरत साधु को मासक्षमण (एक मासिक उपवास) आदि लंबी तपश्चर्या से अथवा धर्मपालन के लिए विविध परिषहों आदि के सहन के कारण भलीभांति काया को विविध क्लेश देने से इस लोक में सुख का अभाव रहता है, मगर उसके लिए एक परलोक (जन्म) अच्छा रहता है । क्योंकि उसे आगामी जन्म में परलोक के रूप में अपने तप आदि देह दमन के फल स्वरूप देवलोक के सुख या राज्यादि सुख प्राप्त होते हैं ॥४४१॥

नरयनिरुद्धमईणं, दंडियमाईण जीवियं सेयं ।
बहुवायम्मि वि देहे, विसुज्झमाणस्स वरमरणं ॥४४२॥

शब्दार्थ : नरक-तिर्यंच आदि नीचगति के योग्य काम करने वाले राजा, मंत्री आदि मनुष्यों के लिए इहलोक (यह मनुष्यलोक) अच्छा है, क्योंकि यहाँ तो उन्हें पूर्वजन्म के पुण्यफल स्वरूप सभी सुख-साधन मिले हैं, परंतु अगर वे इन सुख साधनों में लुब्ध होकर धर्माचरण करना भूल जाते

हैं, तो परलोक में उन्हें अवश्य ही नरकादि गतियाँ मिलेंगी। जहाँ उन्हें बध, बंधन, मारपीट, डाँट, फटकार आदि यातनाएँ मिलेंगी। इसीलिए ऐसों के लिए परलोक अच्छा नहीं। परंतु जो सुख-साधन संपन्न पुरुष शरीर में उत्पन्न आधि, व्याधि को सहन करते हैं, धर्माचरण में प्रमाद नहीं करते; जिसके कारण अंतिम समय में उनका ध्यान विशुद्ध रहता है, उनका मरना और परलोक जाना कल्याणकारी है, क्योंकि उन्हें वहाँ सद्गति और सुख मिलेंगे ॥४४२॥

तवनियमसुट्ठियाणं, कल्लाणं जीवियं पि मरणं पि ।
जीवंति जइ गुणा, अज्जिणंति सुग्गइं उविंति मया ॥४४३॥

शब्दार्थ : बारह प्रकार के तप, जप, नियम, व्रत और संयम धर्म की जो भलीभांति आराधना करते हैं, उनका जीना और मरना दोनों कल्याणकारी हैं। क्योंकि अगर धर्मात्मा पुरुष (साधु-श्रावक आदि) जीते रहेंगे तो भी वे धर्म वृद्धि करेंगे और अधिक गुणों का उपार्जन करेंगे और मरने के बाद भी परलोक में स्वर्ग-मोक्षादि सद्गति अवश्य प्राप्त करेंगे ॥४४३॥

अहियं मरणं अहियं च, जीवियं पावकम्मकारीणं ।
तमसम्मि पडंति मया, वेरं वड्ढंति जीवंता ॥४४४॥

शब्दार्थ : रात-दिन पापकर्म करते रहने वाले व्यक्ति का मरना भी अहितकर और जीना भी अहितकर। क्योंकि मरने

के बाद ऐसे जीव घोर-तामस-रूप नरक में जाते हैं और जीते रहते हैं तो भी वे अनेक जीवों का संहार करके वैरभाव बढ़ाते हैं ॥४४४॥

अवि इच्छंति य मरणं, न य परपीडं करंति मणसा वि ।
जे सुविहियसुगइपहा, सोयरियसुओ जहा सुलसो ॥४४५॥

शब्दार्थ : कालसौकरिक कसाई के पुत्र सुलस के समान जिन्होंने सुगति का मार्ग (मोक्षमार्ग) भलीभांति जान लिया है, वे दूसरे प्राणियों के कष्टों-संकटों के निवारण के लिए खुद मर जाना पसंद करते हैं, किन्तु मन से भी किसी दूसरे प्राणी को पीड़ा देना नहीं चाहते; शरीर और वचन से तो पीड़ा देने की बात ही दूर रही । सुलस ने जब से तत्त्वज्ञान और सुबोध पाया, तब से दूसरे जीव को तकलीफ नहीं पहुँचायी; वैसे ही तत्त्वज्ञ और मोक्षमार्गवेत्ता पुरुष दूसरों को तकलीफ नहीं देते ॥४४५॥

मोलगकुदंडगादामगणिओ-चूलघंटिआओ य ।
पिंडेइ अपरितंतो, चउप्पया नत्थि य पसू वि ॥४४६॥

शब्दार्थ : जो व्यक्ति पशुओं को बांधने के लिए खूंटा, छोटे-छोटे बछड़ों के बांधने को लिए खीला, पशुओं को बांधने लिए रस्सी, गले में बांधने लायक घंटी आदि पशुओं की सारी शृंगारसामग्री तो इकट्ठी कर लेता है, परंतु अपने घर

में एक भी गाय, भैंस आदि चौपाया जानवर नहीं रखता तो उसका इस प्रकार की सामग्री इकट्ठी करना व्यर्थ होता है ॥४४६॥

तह वत्थपायदंडग-उवगरणे, जयणकज्जमुज्जुत्तो ।
जस्सट्ठाए किलिस्सइ, तं चिय मूढो न वि करेइ ॥४४७॥

शब्दार्थ : जैसे पशुओं के रखे बिना ही पशुओं के बांधने आदि का सामान इकट्ठा करने वाला हंसी का पात्र और बेवकूफ समझा जाता है; वैसे ही जो अविवेकी साधक वस्त्र, पात्र, दंड, रजोहरण आदि संयम की सकल सामग्री (धर्मोपकरण) अत्यंत ममतापूर्वक बेमर्याद इकट्ठी कर लेता है, लेकिन जिस उद्देश्य के लिए / वह संयम की साधन सामग्री रखी है, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन उपकरणों की जयणा जरा भी नहीं करता । उन्हें सहेज-सहेज कर रखता जरूर है, मगर उनका प्रतिलेखन-प्रमार्जन आदि नहीं करता, न दूसरे साधुओं को देता है । वह वास्तव में विचारमूढ़ है; क्योंकि संयम के लिए वह उपकरण जुटाने का सिर्फ कष्ठ उठाता है, मगर उस संयम की कारणभूत यतना को नहीं अपनाता । इसीलिए उसका उपकरण इकट्ठा करना व्यर्थ है ॥४४७॥

अरिहंत भगवंतो, अहियं व हियं व न वि इहं किंचि ।
वारंति कारविंति य, धित्तूण जणं बला हत्थे ॥४४८॥

शब्दार्थ : राग-द्वेष रहित श्री अरिहंत भगवान् इस संसार में किसी का हाथ पकड़कर न तो जबरन जरा भी हित

कराते हैं न किसी को अहित से रोकते हैं । मतलब यह है कि जैसे राजा मनुष्यों से जबर्दस्ती अपनी हितकारी आज्ञा पलवाता है व अहितकारी मार्ग से रोकता है, वैसे अरिहंत भगवान् नहीं करते ॥४४८॥

उवएसं पुण तं दिंति, जेण चरिएण कित्तिनिलयाणं ।
देवाण वि हुंति पहू, किमंग पुण मणुयमित्ताणं ॥४४९॥

शब्दार्थ : जिनेश्वर भगवान् भव्यजीवों को धर्मोपदेश देते हैं, जिसका आचरण करके वे कीर्ति के स्थान रूप देवों के भी स्वामी (इन्द्र) बनते हैं, फिर मनुष्य मात्र के स्वामी होने में तो आश्चर्य ही क्या ? ॥४४९॥

वरमउडकिरीडधरो, चिचइओ चवलकुंडलाहरणो ।
सक्को हिओवएसा, एरावणवाहणो, जाओ ॥४५०॥

शब्दार्थ : श्रेष्ठ मुकुटधारी, बाजूबंद आदि आभूषणों से सुशोभित, कानों में दिव्य चमकते हुए चपल कुंडल से विभूषित शक्रेन्द्र श्रीजिनेश्वर भगवान् के हितकर उपदेश के अनुसार आचरण करने से ऐरावत नामक हाथी की सवारी वाला बना । मतलब यह है कि कार्तिक सेठ के भव में इन्द्र ने श्री मुनिसुव्रत स्वामी का उपदेश सुनकर उनके पास दीक्षा ग्रहण की थी; और १२ वर्ष तक संयम की आराधना की । जिसके फलस्वरूप वे सौधर्मेन्द्र बने ॥४५०॥

रयणुज्जलाइं जाइं, बत्तीसविमाणसयसहस्साइं ।
वज्जहरेण वराइं, हिओवएसेण लद्धाइं ॥४५१॥

शब्दार्थ : सौधर्मेन्द्र को दिव्यरत्नादि से विभूषित देदीप्यमान और श्रेष्ठ ३२ लाख विमानों का स्वामित्व श्री वीतरागप्रभु के हितोपदेश के अनुसार आराधना करने से प्राप्त हुआ ॥४५१॥

सुरवइसमं विभूइं, जं पत्तो भरहचक्कवट्टी वि ।
माणुसलोगस्स पहू, तं जाण हिओवएसेण ॥४५२॥

शब्दार्थ : इस मनुष्य लोक में भी भरतचक्रवर्ती ने इन्द्र के समान ऐश्वर्य और भरतक्षेत्र के षट्खण्ड के अधिपति के रूप में जो प्रभुत्व पाया, उसे भी जिनेश्वर भगवान् के हितकर-उपदेशानुसार आचरण का फल समझो ॥४५२॥

लद्धूण तं सुइसुहं, जिणवयणुवएस-मयबिंदुसमं ।
अप्पहियं कायव्वं, अहिएसु मणं न दायव्वं ॥४५३॥

शब्दार्थ : अमृत के समान श्रवण सुखदायी जिनवचनोपदेशामृत की बूँदें पाकर भव्य जीवों को अपना हितकारी धर्मानुष्ठान अवश्य करना चाहिए, और जो अहितकर पापमय कार्य हैं उनमें चित्त नहीं लगाना चाहिए। काया और वचन को उनमें प्रवृत्त करने की तो बात ही कहाँ ? जगत्-हितकर जिनवचन सुनने का यही सार है ॥४५३॥

हियमप्पणो करिंतो, कस्स न होइ गरुओ गुरुगण्णो ? ।
अहियं समायरंतो, कस्स न विप्पच्चओ होइ ? ॥४५४॥

शब्दार्थ : अपनी आत्मा के लिए हितकारी धर्मानुष्ठान आदि करने वाले किस मनुष्य का गौरव गुरु के समान गणनापात्र नहीं होता ? यानी जो आत्म-हिताचरण करता है, वह सब जगह प्रतिष्ठा पाता है । और आत्मा का अहित करने वाला कौन मनुष्य अविश्वासपात्र नहीं होता ? वह सर्वत्र अविश्वसनीय होता है ॥४५४॥

जो नियम-सील-तव-संजमेहिं, जुत्तो करेइ अप्पहियं ।
सो देवयं व पुज्जो, सीसे सिद्धत्थओ व्व जणे ॥४५५॥

शब्दार्थ : जो भाग्यशाली नियम, शील (सदाचार), तप, संयम, व्रत-प्रत्याख्यान आदि से युक्त होकर आत्मा का हितकारी धर्मानुष्ठान करता है, वह देवता के समान पूजनीय बनता है । संसार में उसे सफेद सरसों की तरह मस्तक पर चढ़ाते हैं । जैसे संसार में लोग सफेद सरसों को अपने मस्तक पर चढ़ाते हैं; वैसे ही उस व्यक्ति की आज्ञा को लोग शिरोधार्य करते हैं ॥४५५॥

सव्वो गुणेहिं गण्णो, गुणाहियस्स जह लोगवीरस्स ।
संभंतमउडविडवो, सहस्स नयणो सययमेइ ॥४५६॥

शब्दार्थ : सभी जीव अपने गुणों से ही माननीय होते हैं । जैसे लोक-प्रसिद्ध महावीर स्वामी को सहस्त्रनेत्र एवं चंचल मुकुटाडंबरधारी इन्द्र सतत वंदन करने आता हैं । इसीलिए गुणवत्ता ही पूजनीयता का कारण है ॥४५६॥

चोरिक्क-वंचणा-कूडकवड-परदारदारुणमइस्स ।
तस्स च्चिय तं अहियं, पुणो वि वेरं जणो वहइ ॥४५७॥

शब्दार्थ : चोरी करना, दूसरों को धोखा देना, झूठ बोलना, कपट करना, परस्त्री गमन आदि भयंकर पापकार्यों में जिसकी बुद्धि लगी हुई रहती है, उसके लिए ये पापाचरण अवश्य ही अहितकर हैं, परभव में ये नरक-तिर्यंच-गति के कारण हैं ही इस भव में भी लोग ऐसे व्यक्ति से वैर रखते हैं और यह वैरपरंपरा आगे-से आगे कई जन्मों तक चलती है ॥४५७॥

जइ ता तणकंचणलिट्ठुरयणसरिसोवमो जणो जाओ ।
तइया नणु वोच्छिन्नो, अहिलासो दव्वहरणम्मि ॥४५८॥

शब्दार्थ : जब साधक तिनके और सोने में, पत्थर और रत्न में समान बुद्धि रखता है, उन दोनों में कोई अंतर नहीं देखता, तभी उसके जीवन में परधन हरण की अभिलाषा, लोभ, तृष्णा आदि का विच्छेद हुआ समझो ॥४५८॥

आजीवग-गणनेया, रज्जसिरिं पयहिऊण य जमाली ।
हियमप्पणो करिंतो, न य वयणिज्जे इह पडंतो ॥४५९॥

शब्दार्थ : राज्यलक्ष्मी का त्याग करके तथा शास्त्रों (सिद्धांतों) का अध्ययन करके भी भगवान् महावीर के दामाद जमाली ने, जो भगवान् महावीर से वेष धारण करके भी बाद में आजीविका-गण (निह्नव) का नेता बन गया था;

आत्महितकारी धर्मानुष्ठान किया होता तो वह इस जगत् में निन्दापात्र न होता । अर्थात्–मिथ्याभिमानवश 'कडेमाणे कडे' इन भगवान् महावीर के सिद्धांतवचनों का उत्थापन करके जमाली जगत् में अति निन्दनीय बना ॥४५९॥

इंदियकसायगारवमएहिं, सययं किलिट्ठपरिणामो ।
कम्मघणमहाजालं, अणुसमयं बंधई जीवो ॥४६०॥

शब्दार्थ : स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों के विषय, क्रोधादि चार कषाय, रसादि तीन गारव (गर्व), जाति आदि आठ मद रूप प्रमाद के आचरण से अत्यंत मलिन परिणामी बना हुआ संसारी जीव प्रतिक्षण कर्म रूपी बादलों के महाजाल को बांधता रहता है । जैसे बादलों का महाजाल चंद्रमा की चांदनी को ढँक देता है, वैसे ही कर्म रूपी महाजाल आत्मा के ज्ञानादि गुणों को ढँक देता है। अतः कर्मबंध के महाजाल के कारण रूप प्रमादाचरण का त्याग करना चाहिए ॥४६०॥

परपरिवायविसाला, अणेगकंदप्पविसयभोगेहिं ।
संसारत्था जीवा, अरइविणोअं करिंतेवं ॥४६१॥

शब्दार्थ : दूसरों की निन्दा करने में आसक्त संसारी जीव अनेक प्रकार के कामोत्तेजक विषय भोगों का सेवन करके दूसरों में अरति (अरुचि) पैदा करके अपना मनोविनोद करता है; यानी दूसरों को दुःखित करके अपनी आत्मा को

संतुष्ट करता है; वह अपने रागद्वेषादि विकारों के कारण संसार में परिभ्रमण करता है ॥४६१॥

आरंभपावनिरया, लोइअरिसिणो तहा कुलिंगी य ।
दुहओ चुक्का नवरं, जीवंति दरिद्दजियलोयं ॥४६२॥

शब्दार्थ : पृथ्वीकाय आदि ६ काय के प्राणियों का मर्दन करने वाले, भोजन बनाने में ही रचे-पचे रहने वाले लौकिक ऋषि, तापस, त्रिदण्डी आदि कुलिंगी (वेषधारी) साधु, साधु-धर्म और श्रावक-धर्म दोनों से भ्रष्ट होकर धर्म रूपी धन से बिलकुल दरिद्र होकर इस संसार में केवल उदरपूर्ति के लिए जीते हैं ॥४६२॥

सव्वो न हिंसियव्वो, जह महिपालो तहा उदयपालो ।
न य अभयदाणवइणा, जणोवमाणेण होयव्वं ॥४६३॥

शब्दार्थ : अभयदानव्रती साधु को संसार के किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए । राजा हो या रंक दोनों पर उसे समदृष्टि रखनी चाहिए । किसी ने उसपर प्रहार किया हो या अपमान किया हो, उससे बदला लेने की भावना नहीं रखनी चाहिए । सर्वत्र अमृतमयी वात्सल्य-दृष्टि रखने का अभ्यास करना चाहिए ॥४६३॥

पाविज्जइ इह वसणं, जणेण तं छगलओ असत्तो त्ति ।
न य कोइ सोणियबलिं, करेइ वग्घेण देवाणं ॥४६४॥

शब्दार्थ : क्षमाशील पुरुष का संसार में नासमझ लोग उपहास किया करते हैं कि 'यह तो बेचारा बकरी-सा कमजोर है। इसे कोई भी दबा सकता है।' इस अपमान से प्रताड़ित होकर भी वह अपनी क्षमा नहीं छोड़ता। 'देवों को बाघ के खून की बलि नहीं दी जाती, बेचारे गरीब बकरे की ही बलि दी जाती है। इसीलिए बलवान को कोई नहीं मार सकता; स्वार्थी लोगों के इस प्रकार के वचन सुनकर भी क्षमाधारी वे समतावान पुरुष अपनी उत्तम वृत्ति को नहीं छोड़ते। वे तो क्षमावृत्ति में ही स्थिर रहते हैं ॥४६४॥

वच्चइ खणेण जीवो, पित्तानिलधाउ सिंभखोभम्मि ।
उज्जमह मा विसीयह, तरतमजोगो इमो दुलहो ॥४६५॥

शब्दार्थ : भव्यजीव ! यह जीव वात, पित्त और कफ तथा सप्तधातुओं के विकार से बना हुआ है; उनके क्षुब्ध होते ही यह एक पल में नष्ट हो जाता है। यह सोचकर क्षमा आदि दस धर्मों के पालन में उद्यम कर। क्योंकि धर्म साधन योग्य तुम्हें जैसी भी शरीरादि सामग्री न्युनाधिक रूप में मिली है, वह बड़ी ही दुर्लभ है। इसीलिए किसी प्रकार का विषाद मत कर, अकर्मण्य बनकर मत बैठ; झटपट इस दुर्लभ सामग्री से लाभ उठा ॥४६५॥

पंचिंदियत्तणं माणुसत्तणं, आरिए जणे सुकुलं ।
साहुसमागम-सुणणा, सद्दहणाऽरोगपव्वज्जा ॥४६६॥

शब्दार्थ : इस संसार में सर्वप्रथम पाँचों इन्द्रियों का मिलना दुर्लभ है । उसके बाद मनुष्यत्व (मनुष्यजन्म तथा मानवता) प्राप्त करना दुर्लभ है । उसके मिलने पर भी मगध आदि आर्यदेश में जन्म होना कठिन है । फिर उत्तमकुल में पैदा होना दुष्कर है । इतना हो जाने पर भी सुसाधुजनों का समागम मिलना सुलभ नहीं । सुसाधु-समागम मिलने पर भी धर्मश्रवण करना दुर्लभ है । उसके बाद उस पर दृढ़ श्रद्धा होना मुश्किल है । श्रद्धा तो है, मगर शरीर निरोग नहीं तो प्रव्रज्या नहीं ली जा सकती । इसीलिए शरीर स्वस्थता और उसके बाद मुनि दीक्षा लेना अत्यंत दुर्लभ है ॥४६६॥

आउं संविल्लंतो, सिढिलंतो बंधणाइं सव्वाइं ।
देहट्ठिइं मुयंतो, झायइ कलुणं बहुँ जीवो ॥४६७॥

शब्दार्थ : आयु जब पूर्ण होने को आती है, तब शरीर के सारे अंगोपांग ढीले हो जाते हैं, अवयवों के जोड़ लड़खड़ा जाते हैं; और जब इस शरीर को छोड़ने लगता है, तब धर्माचरण से रहित जीव करुण स्वर से बहुत पश्चात्ताप करता है कि "हाय ! अपने शरीर के स्वस्थ रहते, जवानी में सर्वोत्तम, जिनप्रणीत धर्म-(शासन) प्राप्त करके भी मैंने अज्ञान, मोह और प्रमादवश विषय-लोलुपता में फंसकर अपनी अमूल्य जिंदगी खो दी, मगर आत्महितकर धर्मसाधना नहीं की ! अब मेरी क्या दशा होगी ?" इस प्रकार वह शोकसागर में डूबा रहता है ॥४६७॥

इक्कंपि नत्थि जं सुट्ठु, सुचरियं जह इमं बलं मज्झ ।
को नाम दढक्कारो, मरणंते मंदपुण्णस्स ॥४६८॥

शब्दार्थ : मैंने एक भी ऐसे सुकृत (पुण्य-शुभ-कर्म) का आचरण अच्छी तरह नहीं किया, जिसके बल पर मैं आगामी जन्म में सुखी हो सकूँ । प्राप्त उत्तम सामग्री को मैंने निरर्थक खो दी ।[१] अतः अब मुझ अभागे (हीनपुण्य) का मृत्यु के अंतिम क्षणों में कौन-सा मजबूत सहारा है ? ॥४६८॥

सूल-विस-अहि-विसूईय-पाणीय-सत्थग्गिसंभमेहिं च ।
देहंतरसंकमणं, करेइ जीवो मुहुत्तेण ॥४६९॥

शब्दार्थ : और इस प्रकार पश्चात्ताप करता हुआ जीव उदरपीड़ा से, पानी में डूबकर, जहर खाकर, साँप के काटने से, पेचिश रोग से, किसी शस्त्र के प्रहार से, अग्नि में जलकर या अत्यंत भय अथवा अत्यंत हर्षावेश से सहसा हृदयगति रुक जाने से एक ही मुहूर्त में एक देह को छोड़कर दूसरा देह पा लेता है । कहने का मतलब यह है कि ऐसा अधर्मी जीव किसी न किसी कारणवश सहसा चल बसता है; और हाथ मलता ही रह जाता है; उसके मन के मंसूबे धरे रह जाते हैं । इसीलिए ऐसा समय आए उससे पहले ही

---

१. तुलना : लोहाय नावं जलधौ भिनत्ति, सूत्राय वैडूर्यमणिं द्दणाति । सच्चन्दनं ह्योषति भस्मनेऽसौ, यो मानुषत्वं नयतीन्द्रियार्थे ।

आत्महित के लिए धर्मसाधना कर लेनी चाहिए, ताकि बाद में पछताने का मौका न आये ॥४६९॥

कत्तो चिंता सुचरियतवस्स, गुणसुट्ठियस्स साहुस्स ? ।
सुग्गइगमपडिहत्थो, जो अच्छइ नियमभरियभरो ॥४७० ॥

शब्दार्थ : जिस साधु ने भलीभांति तप-संयम की आराधना की है और महाव्रतादि गुणों में जो सुस्थित है, उसे किस बात की चिन्ता हो सकती है ? क्योंकि सुगतिगमन तो व्रत-नियम आदि के परिपालन में समर्थ, धर्म-धन से परिपूर्ण ऐसे साधु के हाथ में ही होता है ॥४७०॥

साहंति य फुड वियडं, मासाहससउणसरिसया जीवा ।
न य कम्मभारगरुयत्तणेण, तं आयरंति तहा ॥४७१॥

शब्दार्थ : संसार में लोग जितना और जैसा स्पष्ट रूप से उपदेश झाड़ते हैं, उतना और वैसा वे स्वयं आचरण नहीं करते; क्योंकि वे अपने दुष्कर्मों के भार से बोझिल बने हुए हैं । ऐसे परोपदेश कुशल, किन्तु आचरण दुर्बल मासाहस नामक पर्वतीय पक्षी की तरह हैं; जो बाद में पछताते हैं ॥४७१॥

वग्घमुहम्मि अइगओ, मंसं दंतंतराउ कड्ढइ ।
'मा साहसं' ति जंपइ, करेइ न य तं जहाभणियं ॥४७२॥

शब्दार्थ : जंगल में एक बाघ मुँह फाड़े सोया था । उसकी दाढ़ों में मांस का कुछ अंश लगा हुआ था । 'मासाहस' नाम का एक पक्षी रोज उसके मुंह में घुसकर

मांस निकाल लाता और पेड़ पर बैठकर खाता था । फिर वह बोलता– 'मा साहसं कुरु', 'मा साहसं कुरु' (साहस मत करो, साहस मत करो) । परंतु जैसा वह कहता था, उसके अनुसार स्वयं करता नहीं था । वह खुद बार–बार बाघ के मुंह में से मांस निकालने का साहस किया करता था । दूसरे पक्षियों ने उसे ऐसा करने से रोका, मगर वह नहीं माना । एक दिन जब बाघ सोया हुआ था तब वह मांस लोलुप मासाहस पक्षी उसके मुँह में घुसकर मांस निकालने लगा । इतने में सहसा बाघ जाग गया और उस पक्षी को अपने मुंह में दबोचकर उसका काम तमाम कर डाला । इसी तरह जो व्यक्ति दूसरों को उपदेश तो बहुत देते हैं, मगर स्वयं उस पर अमल नहीं करते; उनकी भी अंत में मासाहस पक्षी के जैसी ही दुर्दशा होती है ॥४७२॥

परियट्टिऊण गंथत्थवित्थरं, निहसिऊण परमत्थं ।
तं तह करेह जह तं, न होइ सव्वंपि नडपढियं ॥४७३॥

शब्दार्थ : ग्रंथ (सूत्र) के अर्थों का विस्तार से बार–बार दोहराकर घोटकर याद करके और उसके परमार्थ को अच्छी तरह समझकर भी भारी कर्मा साधक उसके अनुसार आचरण नहीं करता; इससे उसकी मुक्ति रूप कार्यसिद्धि नहीं होती । बल्कि उसका सारा सूत्रार्थ कण्ठस्थ करना नट के द्वारा रंगमंच पर बोलने के समान होता है । जैसे कुशल नट पहले

नाटक के पाठ को अच्छी तरह घोटकर कण्ठस्थ करके फिर रंगमंच पर ज्यों का त्यों बोल देता है, परंतु उसके जीवन में वह बिलकुल उतरा नहीं होता; वैसे ही बहुत-से शास्त्र या ग्रंथ कण्ठस्थ कर लेने पर भी जिसके जीवन में जरा भी नहीं उतरे होते; उसके लिए वे व्यर्थ व दिमाग के बोझ हैं ॥४७३॥

पढइ नडो वेरग्गं, निविज्जिज्ज य बहुजणो जेण ।
पढिऊण तं तह सढो, जालेण जलं समोयरइ ॥४७४॥

शब्दार्थ : नट रंगमंच पर आकर वैराग्य की ऐसी बातें करता है कि उससे अनेक लोगों को वैराग्य हो जाता है; मगर उस पर अपनी बातों का कोई असर नहीं होता, वैराग्य का रंग नहीं चढ़ता । इसी प्रकार सूत्रार्थ का भलीभांति अध्ययन करके मायावी (शठ) साधक भी वैराग्य का उपदेश देकर अनेक लोगों को वैराग्य पैदा कर देता है, मगर उस पर वैराग्य (धर्म से विपरीत बातों से विरक्त होने) का रंग नहीं चढ़ता । जैसे मछलियाँ पकड़ने वाला अपने जाल को लेकर स्वयं जल में प्रवेश करता हैं, उसे फैलाता है; और मछलियों को फंसा लेता है; वैसे ही मायावी साधक बी वैराग्य की बातों की अपनी मायाजाल फैलाकर भोले लोगों को उसमें फंसा लेता है । मगर ऐसा करने से उस मायापूर्ण चेष्टा वाले साधक का शास्त्राध्ययन भी उसका कल्याणकर्ता व मोक्षदाता नहीं होता; बल्कि निरर्थक और कर्मबंध का कारण होता है ।

अतः मायाजाल छोड़कर सरल भाव से शास्त्रोचित प्रवृत्ति करने से ही कल्याण हो सकता है ॥४७४॥

कह कह करेमि कह मा करेमि, कह कह कयं बहुकयं मे ।
जो हिययसंपसारं, करेइ सो अइकरेइ हियं ॥४७५॥

शब्दार्थ : जो विवेकी साधक हृदय में विचार करता है कि "मैं किस-किस तरह से धर्माचरण करूँ ? किस तरह से न करूँ ?" वही अपना आत्मकल्याण अत्यंत मात्रा में कर सकता है ॥४७५॥

सिढिलो अणायरकओ, अवसवसकओ तह कयावकओ ।
सययं पमत्तसीलस्स, संजमो केरिसो होज्जा ? ॥४७६॥

शब्दार्थ : जो संयम का आचरण करने में शिथिल रहता है, या संयम का अनादर करता है, कुछ गुरु की पराधीनता से करता है, कुछ अपनी स्वच्छंदता से करता है, कुछ संपूर्ण रूप से आराधना न होने से, कुछ विराधना होने से निरंतर प्रमादशील रहता है; बताओ, ऐसे व्यक्ति का संयम पालन कैसा और क्या रंग ला सकता है ? क्योंकि उसकी आराधना विराधना जैसी होती है । अतः ऐसा व्यक्ति संयम में सफल नहीं होता; उसका चारित्र निस्सार है ॥४७६॥

चंदोव्व कालपक्खे, परिहाय पए-पए पमायपरो ।
तह उग्घरविघर-निरंगणो, य न य इच्छियं लहइ ॥४७७॥

शब्दार्थ : जैसे चन्द्रमा कृष्णपक्ष में प्रतिदिन क्षीण होता जाता है, वैसे ही पग-पग पर प्रमादपरायण साधक के गुण दिनानुदिन घटते जाते हैं । यद्यपि वह गृहस्थ-धर्म का त्यागकर गृह-गृहिणी से रहित होकर साधु-धर्म में दीक्षित होता है, तथापि प्रमादाचरणवश अशुभ अध्यवसाय के कारण वह स्वर्गादि वांछनीय फल प्राप्त नहीं कर सकता ॥४७७॥

भीउव्विग्गनिलुक्को, पागडपच्छन्नदोससयकारी ।
अप्पच्चयं जणंतो, जणस्स धी जीवियं जियइ ॥४७८॥

शब्दार्थ : अपने किये हुए पापाचरण के प्रकट हो जाने के भय से जो मन में सदा उद्विग्न रहता है, लोगों की नजरों से बचता-छिपता रहता है, अपने किये हुए पापों पर पर्दा डालता रहता है; और खुले आम सैकड़ों दोषों का सेवन करता रहता है; ऐसा व्यक्ति अपना निन्द्य जीवन लिये हुए अविश्वास पैदा करता रहता है । धिक्कार है उसके जीवन को ! ॥४७८॥

न तहिं दिवसा पक्खा, मासा वरिसा वि संगणिज्जंति ।
जे मूल-उत्तरगुणा, अक्खलिया ते गणिज्जंति ॥४७९॥

शब्दार्थ : वे दिन, वे पक्ष, वे मास या वे वर्ष निरर्थक गिने जाते हैं, जो धर्माचरण के बिना बीते हों । परंतु जो दिन-मासादि धर्माचरण-मूलगुण-उत्तरगुण रूप धर्म-की निरति-चार आराधना पूर्वक बीते हों, वे ही सार्थक गिने जाते हैं । मतलब यह है कि जो समय धर्मयुक्त बीते वही सार्थक है,

चाहे वह थोड़ा ही क्यों न हो । बाकी का सारा समय निरर्थक है ॥४७९॥

जो नवि दिणे-दिणे संकलेइ,
के अज्ज अज्जिया मए गुणा ? ।
अगुणेसु य न य खलिओ,
कह सो उ करेइ अप्पहियं ? ॥४८० ॥

शब्दार्थ : जो साधक प्रतिदिन इस प्रकार का संकलन विचार नहीं करता कि आज मैंने कौन-से ज्ञानादि गुण प्राप्त किये ? किन-किन मिथ्यात्वादि दुर्गुणों से मैं आज स्खलित (लिप्त) नहीं हुआ ? यानी जो अहर्निश इस प्रकार का चिन्तन नहीं करता, प्रमाद और अतिचार रूप अवगुण को नहीं छोड़ता, उसी ढर्रे पर (आचरण पर) चलता रहता है; वह साधक अपना आत्महित कैसे कर सकता है ? सतत् आत्म-निरीक्षण करने वाला साधक ही स्व-पर हित कर सकता है ॥४८०॥

इय गणियं इय तुलिअं, इय बहुआ दरिसियं नियमियं च ।
जह तहवि न पडिबुज्झइ, किं कीरउ ? नूण भवियव्वं ॥४८१॥

शब्दार्थ : इसी ग्रंथ में पहले अनेक स्थलों पर श्री ऋषभदेव स्वामी और श्री महावीर स्वामी के समान धर्माचरण में पुरुषार्थ करने के, अवंतीसुकुमाल आदि की तरह प्राणांत कष्ट आ पड़ने पर भी धर्म को नहीं छोड़ने के, और जिनकल्पी के समान चर्या रखने वाले आर्यमहागिरि

आदि के दृष्टांत विभिन्न तरीकों से बताये हैं; समिति, गुप्ति, विषय, कषायादि पर विजय आदि के सुफल बताने वाली अनेक युक्तियाँ देकर समझाया है, तथा अनेक प्रकार से सुकर्म-कुकर्म के फल भी प्रदर्शित किये हैं, अधर्म, प्रमाद, पाप आदि के आचरणों के नरकादि दुष्फल बताकर उनसे विरत होने का उपदेश दिया है; फिर भी भारीकर्मा दीर्घसंसारी जीव प्रतिबोधित नहीं होता; उसे यह उपदेश रुचिकर नहीं लगता । लघुकर्मा जीव को ही शीघ्र प्रतिबोध लग सकता है, भारीकर्मा को नहीं । अतः उन भारीकर्मा जीवों की ऐसी भवितव्यता समझना ॥४८१॥

किमगं तु पुणो जेणं, संजमसेढी सिढिलीकया होइ ।
सो तं चिय पडिवज्जइ, दुक्खं पच्छा उ उज्जमइ ॥४८२॥

शब्दार्थ : जो पुरुष संयमश्रेणी-ज्ञानादि गुणों की श्रेणी को शिथिल करता है, उसकी शिथिलता दिन-ब-दिन अवश्य ही बढ़ती जाती है । और बार-बार शिथिल होने के पश्चात् उसे संयम में उद्यम करना दुष्कर लगता है । इसीलिए शिथिलता प्रवेश होने के साथ ही उसे फौरन निकाल देना चाहिए ॥४८२॥

जइ सव्वं उवलद्धं, जइ अप्पा भाविओ उवसमेण ।
कायं वायं च मणं, उप्पहेणं जह न देई ॥४८३॥

शब्दार्थ : हे भव्यजीव ! यदि तुमने पूर्वोक्त समस्त सामग्री प्राप्त की है और आत्मा को उपशमभाव से सुसज्जित कर लिया है तो अब ऐसा उपाय करो, जिससे तुम्हारा शरीर, मन और वचन प्रमादवश उन्मार्ग पर न चला जाय ॥४८३॥

हत्थे पाए न खिव्वे, कायं चालिज्ज तं पि कज्जेण ।
कुम्मु व्व सए अंगम्मि, अंगुवंगाइ गोविज्जा ॥४८४॥

शब्दार्थ : साधक को अपने हाथ-पैर निष्प्रयोजन नहीं हिलाने चाहिए । शरीर को भी तभी चलाना चाहिए, जब ज्ञानादि गुणों का अभ्यास करना हो, गुरुसेवा करनी हो, अथवा अन्य कोई अनिवार्य कारण हो । तथापि जैसे कछुआ अपने अंगों को अंदर ही सिकोड़ लेता है, वैसे ही साधक को अपने समस्त अंगोपांगों को सिकोड़कर उनका संगोपन (सुरक्षण) करना चाहिए ॥४८४॥

विकहं विणोयभासं, अंतरभासं अवक्कभासं च ।
जं जस्स अणिट्ठमपुच्छिओ, य भासं न भासिज्जा ॥४८५॥

शब्दार्थ : स्त्री, भोजन, शासक और देशसंबंधी विकथाओं से युक्त भाषा, कुतूहल, कामोत्तेजना या हँसी पैदा करने वाली वाणी, गुरु या बड़े साधु किसी से बात कर रहे हों, उस समय बीच में ही बोल पड़ना, मकार-चकार आदि अवाच्य अश्लील शब्द या अपशब्द बोलना या किसी का

अनिष्ट (बुरा) करने वाली या अप्रीति पैदा करने वाली बात कहना, किसी के बिना पूछे ही निरर्थक बोलते रहना; इन और ऐसी भाषाओं का प्रयोग साधु न करे ॥४८५॥

अणवट्ठियं मणो जस्स, झायइ बहुयाइं अट्टमट्टाइं ।
तं चिंतिअं च न लहइ, संचिणइ अ पावकम्माइं ॥४८६॥

शब्दार्थ : जिसका मन हर समय अत्यंत चंचल रहता है, जो अंट-संट इधर-उधर के अनाप-शनाप बुरे विचार करता रहता है; वह अपना मनोवांछित फल प्राप्त नहीं कर सकता; उल्टे वह पापकर्मों का संचय करता रहता है । इसीलिए मन को स्थिर करके ही सर्वार्थ साधक संयम में पुरुषार्थ करना चाहिए ॥४८६॥

जह-जह सव्वुवलद्धं, जह-जह सुचिरं तवोधणे(वणे) वोत्थं ।
तह-तह कम्मभरगुरु, संजमनिब्बाहिरो जाओ ॥४८७॥

शब्दार्थ : 'यह देखा गया है कि गुरुकर्मा साधक ज्यों-ज्यों सिद्धांतों (शास्त्रों) के रहस्य को अधिकाधिक उपलब्ध करता जाता है और जितने-जितने दीर्धकाल तक वह तपोधनी साधुओं के संपर्क में रहता है; त्यों-त्यों और उतना-उतना वह अपने भयंकर स्निग्धकर्मों के कारण संयममार्ग से अधिकाधिक विमुख होता जाता है' ॥४८७॥

विज्जप्पो जह-जह ओसहाइं, पज्जेइ वायहरणाइं ।
तह-तह से अहियरं, वाएणाऊरितं पोट्टं ॥४८८॥

शब्दार्थ : हितैषी वैद्य किसी वातरोगी के वातरोग को मिटाने के लिए ज्यों-ज्यों सोंठ, कालीमिर्च आदि औषध देता है, त्यों-त्यों वह वायुरोग असाध्य होने के कारण उदर में अधिकाधिक बढ़ता जाता है। इसी प्रकार प्राप्त वीतरागदेव के अमृत-वचन रूपी औषध का अधिक से अधिक पान करने पर भी वह गुरुकर्मा जीव के ज्ञानावरणीयादि कर्म रूपी वातरोग को शांत नहीं करता; बल्कि उस बहु गुरुकर्मा जीव के असाध्य कर्म रूपी वातरोग में वृद्धि होती जाती है ॥४८८॥

दड्ढजउमकज्जकरं, भिन्नं संखं न होई पुणकरणं ।
लोहं च तंबविद्धं, न एइ परिकम्मणं किंचि ॥४८९॥

शब्दार्थ : जैसे जली हुई लाख किसी काम में नहीं आती, टूटा हुआ शंख फिर से जोड़ा नहीं जा सकता, तांबे के साथ मिला हुआ लोहा भी बिलकुल जोड़ने लायक नहीं रहता; वैसे ही असाध्य गुरु कर्म-रोग से पीड़ित व्यक्ति धर्माचरण में अपने को नहीं जोड़ सकता; वह धर्माचरण के अयोग्य बन जाता है। वह किसी भी धर्माचरण द्वारा अपने जीवन को सुधार नहीं सकता ॥४८९॥

को दाही उवएसं, चरणालसयाणं दुव्विअड्ढाण ? ।
इंदस्स देवलोगो, न कहिज्जइ जाणमाणस्स ॥४९०॥

शब्दार्थ : जो साधक धर्माचरण (चारित्रपालन) करने में आलसी हैं, अधकचरे पंडित हैं, यानी थोड़ा-सा ज्ञान पाकर

अपने आपको बड़ा विद्वान् समझते हैं; जिन्हें सभी शास्त्रवचनों की जानकारी है, उन्हें कौन उपदेश दे सकता है ? उन्हें वैराग्य तत्त्व का उपदेश देना उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार देवलोक के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानने वाले इन्द्र को देवलोक का स्वरूप समझाना ॥४९०॥

दो चेव जिणवरेहिं, जाईजरामरणविप्पमुक्केहिं ।
लोगम्मि पहा भणिया, सुस्समण-सुसावगो वा वि ॥४९१॥

शब्दार्थ : इस जगत् में मोक्ष जाने के लिए जन्म, जरा और मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त श्री जिनेश्वरों ने दो ही मार्ग बताये हैं-'एक सुश्रमण धर्म, दूसरा सुश्रावक धर्म' ॥४९१॥

भावच्चणमुग्गविहारया य, दव्वच्चणं तु जिणपूया ।
भावच्चणाया भट्ठो, हविज्ज दव्वच्चणुज्जुत्तो ॥४९२॥

शब्दार्थ : साधुजीवन अंगीकार करके उग्र विहार (महाव्रतादि का उत्कृष्टरूप से मन, वचन, काया से सत्यतापूर्वक पालन) करना जिनेश्वर भगवान् की भावपूजा है, और जिनभगवान् के बिम्ब की विविध द्रव्यों से पूजा करना द्रव्यपूजा है। यदि कोई भावार्चना (भावपूजा) से भ्रष्ट हो रहा हो तो उसे श्रावकधर्म अंगीकार करके द्रव्यार्चना में जुड़ जाना चाहिए ॥४९२॥

जो पुण निरच्चणो च्चिअ, सरीरसुहकज्जमित्ततल्लिच्छो ।
तस्स न य बोहिलाभो, न सुग्गई नेय परलोगो ॥४९३॥

शब्दार्थ : परंतु जो व्यक्ति द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की अर्चनाओं से रहित है; यानी न तो वह साधुधर्म का ही पालन करता है और न श्रावकधर्म का ही; किन्तु रातदिन शरीर को आराम तलब बनाने में ही लगा रहता है, अपने शरीर सुख का ही लिप्सु बना रहता है; उसे आगामी जन्म में बोधिलाभ (शुद्ध धर्म का बोध प्राप्त) नहीं होता, न उसे सद्गति (मोक्षगति) प्राप्त होती है और न उसे परलोक ही अच्छा (मनुष्यत्व या देवत्व के रूप में) मिलता है ॥४९३॥

कंचणमणिसोवाणं, थंभसहस्सूसिअं सुवण्णतलं ।
जो करिज्ज जिणहरं, तओ वि तव-संजमो अहिओ ॥४९४॥

शब्दार्थ : अगर एक व्यक्ति सोने और चन्द्रकान्त आदि मणियों से निर्मित सोपानों वाला, हजारों स्तंभो वाला विशाल और सोने के तलघर वाला जिनालय बनवाता है; परंतु दूसरा भगवान् की आज्ञानुसार तप-संयम (सर्वविरति चारित्र) का पालन करता है तो वह उससे भी बढ़कर है। यानी द्रव्यपूजा से भावपूजा श्रेष्ठ है ॥४९४॥

निब्बीए दुब्भिक्खे, रन्ना दीवंतराओ अन्नाओ ।
आणेऊणं बीअं, इह दिन्नं कासवजणस्स ॥४९५॥

केहिंवि सव्वं खइयं, पइन्नमन्नेहिं सव्वमद्धं च ।
वुत्तंग्गयं च केई, खित्ते खोट्टेंति संतत्था ॥४९६॥

शब्दार्थ : दुष्काल के समय बोने के लिए बीजों का बिल्कुल अभाव होने पर उस देश का राजा दूसरे द्वीपों से बीज मंगवाकर कृषकजनों को बोने के लिए देता है। राजा के द्वारा बोने के लिए दिये हुए उन सारे बीजों को कितने ही किसान खा जाते हैं; कई कृषक उन बीजों में से आधे बो देते हैं, आधे खा जाते हैं और कुछ किसान अपने खेत में उन बीजों को बो देने के बाद ऊगकर फसल पूरी पकने से पहले ही उस डर से कि राजसेवकों को पता लगा तो वे इस अनाज को ले जायेंगे; उस अनाज को झटपट घर ले जाने के लिए कूट कर दाने निकालने लगते हैं। परंतु तब भी राजसेवकों को पता लग जाता है और वे उन्हें अपराधी समझकर पकड़ लेते हैं और बहुत तंग करते हैं ॥४९५-४९६॥

राया जिणवरचंदो, निब्बीयं धम्मविरहिओ कालो ।
खित्ताइं कम्मभूमी, कासगवग्गो य चत्तारि ॥४९७॥

शब्दार्थ : इसी प्रकार यहाँ राजा जिनेश्वरचन्द्र (तीर्थंकर देव) हैं। धर्माचरण रूपी बीज से रहित काल दुष्काल के समान निर्बीज काल है। १५ कर्मभूमियाँ धर्मबीज बोने के लिए उत्तम क्षेत्र (खेत) हैं; तथा कृषकवर्ग में चार प्रकार के संसारी जीव हैं- १. असंयत, २. संयत, ३. देशविरति (संयतासंयत) और ४. पार्श्वस्थ ॥४९७॥

असंजएहिं सव्वं, खइयं अद्धं च देसविरएहिं ।
साहूहिं धम्मबीयं, वुत्तं नीअं च निप्फत्तिं ॥४९८॥

शब्दार्थ : अरिहंतदेव रूपी राजा ने चार प्रकार के कृषकवर्ग को धर्मरूपी बीज बोने के लिए दिये । उनमें से संयत अर्थात् व्रत नियम आदि से सर्वथा रहित व्यक्ति तो उन सब धर्मबीजों को बोने के बदले खा गये; जो देशविरति श्रावक (पाँच अणुव्रतादि के धारक) थे, उन्होंने आधे धर्मबीज बोए और आधे खा गये; जो संयतसाधु-थे, उन्होंने सर्वविरति धर्मरूपी सारे बीजों को बो दिये, अर्थात् उनका पूर्णरूपेण सदुपयोग किया ॥४९८॥

जे ते सव्वं लहिउं, पच्छा खुट्टंति दुब्बलधिईया ।
तवसंजमपरितंता, इह ते ओहरिअसीलभरा ॥४९९॥

शब्दार्थ : और जो पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी साधु हैं, वे सर्वविरति रूप धर्मबीज को प्राप्त तो कर लेते हैं, लेकिन बाद में अधीर और कमजोर दिल के बनकर तप-संयम (साधुधर्म) के पालन से ऊब जाते हैं; रातदिन खेद करते रहते हैं और आखिर वे संयम के भार (दायित्व) को छोड़ देते हैं । इस तरह वे अपने ही हाथों से अपने धर्मबीज को नष्ट कर देते हैं ॥४९९॥

आणं सव्वजिणाणं, भंजइ दुविहं पहं अइक्कंतो,
आणं च अइक्कंतो, भमइ जरामरणदुग्गंमि ॥५००॥

शब्दार्थ : पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी तो भगवद् कथित दोनों ही मार्गों का उल्लंघन करके समस्त जिनेश्वरों की आज्ञा का भंग करता है । और जिनाज्ञा-भंग के फलस्वरूप वह जन्म, जरा और मृत्यु रूप अत्यंत दुर्गम अनंत संसार में चिरकाल तक परिभ्रमण करता रहता है ॥५००॥

जइ न तरसि धारेउं, मूलगुणभरं सउत्तरगुणं च ।
मुत्तूण तो तिभूमिं, सुसावगत्तं वरतरागं ॥५०१॥

शब्दार्थ : इसीलिए हे भव्यजीव ! यदि समिति आदि उत्तरगुणों के भारसहित पंचमहाव्रतादि मूलगुणों के भार को धारण करने की तुम्हारी शक्ति नहीं है तो बेहतर यही है कि अपनी जन्मभूमि, विहारभूमि और दीक्षाभूमि इन तीनों प्रदेशों को छोड़कर तथा साधुवेश का त्यागकर सुश्रावकत्व अंगीकार कर लो । साधुवेश में रहकर दंभ, मायाचार और पापाचरण करने के बजाय कपटरहित होकर श्रावकधर्म का अंगीकार करना कहीं अच्छा है ॥५०१॥

अरहंतचेइआणं, सुसाहुपूयारओ दढायारो ।
सुस्सावगो वरतरं, न साहुवेसेणं चुअधम्मो ॥५०२॥

शब्दार्थ : अरिहंत भगवान् के चैत्यों की पूजा और उत्तम साधुओं के सत्कार-सम्मान रूप पूजा में रत होकर निष्कपटता पूर्वक दृढ़ाचार वाला सुश्रावक होना श्रेयस्कर है, परंतु साधुवेश में रहकर धर्मभ्रष्ट बिताना अच्छा नहीं । क्योंकि

आचारभ्रष्ट होकर साधुवेश में रहने से वेश धारण करने के सिवाय और कुछ भी सुफल मिलने वाला नहीं ॥५०२॥

सव्वं ति भाणिऊणं, विरई खलु जस्स सव्विया नत्थि ।
सो सव्वविरइवाई, चुक्कइ देसं च सव्वं च ॥५०३॥

शब्दार्थ : 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' (मैं समस्त सावद्य मन-वचन-काया के व्यापारों (प्रवृत्तियों) का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ, इस प्रकार से सर्वथा त्यागरूप महाप्रतिज्ञा लेने के बाद जिस साधक के जीवन में षड्जीवनिकाय के रक्षणरूप विरति अथवा प्राणातिपात आदि से विरति सर्वांशों में नहीं है; फिर भी जो अपने आपको सर्वविरतिधर कहता है, तो इस प्रकार मिथ्या प्रचार करने वाला साधक देशविरति श्रावकधर्म और सर्वविरति साधुधर्म इन दोनों धर्मों से चूकता है; यानी दोनों से भ्रष्ट होता है ॥५०३॥

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छद्दिट्ठी तओ हु को अन्नो ।
वुड्ढेइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥५०४॥

शब्दार्थ : जो साधक स्वयं महाप्रतिज्ञा लेकर खुद को 'साधु हूँ' ऐसा बताता है, मगर अपनी कथनी के अनुसार करणी नहीं करता; यानी तदनुसार सर्वविरति रूप चारित्र का भलीभांति पालन नहीं करता; तब उससे बढ़कर मिथ्या-दृष्टि और कौन होगा ? बल्कि वह स्वयं मिथ्यादृष्टि बनकर दूसरों में शंका पैदा करके मिथ्यात्व को बढ़ाता है ॥५०४॥

आणाइ च्चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गंति ? ।
आणं च अइक्कंतो, कस्साएसा कुणइ सेसं ॥५०५॥

शब्दार्थ : जिन भगवान् की आज्ञा का पालन ही वास्तव में चारित्र है । जिनाज्ञा-भंग कर देने पर समझ लो, उसने क्या भंग नहीं किया ? यानी जिनाज्ञा-भंग करते ही उसने एक तरह से चारित्र आदि सभी गुणों का सर्वथा भंग कर दिया ! क्योंकि जिनाज्ञा का उल्लंघन करने वाला साधक बाकी के धर्मानुष्ठान या धर्माचरण किसकी आज्ञा से करता है ? जिनाज्ञा के बिना धर्मानुष्ठान या धर्मक्रियाराधन आदि करना केवल विडंबना ही है; वे अनुष्ठान मोक्षफलदायी नहीं होते ॥५०५॥

संसारो अ अणंतो, भट्ठचरित्तस्स लिंगजीविस्स ।
पंचमहव्वयतुंगो, पागारो भिल्लिओ जेण ॥५०६॥

शब्दार्थ : जिस अभागे व्यक्ति ने पंचमहाव्रत रूपी उच्च किलों को तोड़ डाले हैं, वह चारित्रभ्रष्ट मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि वेष केवल आजीविका (उदरपूर्ति) के लिए रखता है । उससे कोई मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य सिद्ध नहीं होता; बल्कि वह अनंतकाल तक संसार परिभ्रमण करता है ॥५०६॥

न करेमि त्ति भणित्ता, तं चेव निसेवए पुणो पावं ।
पच्चक्खमुसावाई, माया नियडीपसंगो य ॥५०७॥

शब्दार्थ : जो साधक 'न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि' (मन-वचन-काया से हिंसा आदि पाप

न करूँगा, न कराऊँगा, न करते हुए दूसरे का अनुमोदन ही करूँगा) इस प्रकार का त्रिकरण-त्रियोग से नौ कोटि सहित प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) करके उसी पाप का सेवन पुनः पुनः करता जाता है, उसे सरासर मृषावादी समझना । क्योंकि वह जैसा कहता है, वैसा करता नहीं । अतः उसे अंतरंग-असत्यरूप माया और बाह्य-असत्यरूप निकृति (धूर्तता) का सेवन करने वाला असत्यवादी समझना चाहिए ॥५०७॥

लोए वि जो ससूगो, अलिअं सहसा न भासए किंचि ।
अह दिक्खिओ वि अलियं, भासइ तो किं च दिक्खाए ।५०८।

शब्दार्थ : लोक व्यवहार में भी पापभीरु व्यक्ति सहसा कोई भी झूठ नहीं बोलता, तब जो मुनि दीक्षा लिया हुआ है, वह असत्य बोलता है तो उसके दीक्षा लेने का अर्थ क्या ? उसका दीक्षित होना निरर्थक ही हुआ ॥५०८॥

महव्वय-अणुव्वयाइं छड्डेउं, जो तवं चरइ अन्नं ।
सो अन्नाणी मूढो, नावा बोद्दो मुणेयव्वो ॥५०९॥

शब्दार्थ : जो साधक महाव्रतों या अणुव्रतों को छोड़कर (लोक दिखावे के लिए) दूसरे तप करता है; उस विचारमूढ अज्ञानी मनुष्य को हाथ में आयी हुई नौका को छोड़कर समुद्र में डूबने का-सा काम करने वाला समझना चाहिए । जिस प्रकार समुद्र में किसी मूढ़ आदमी के हाथ में नौका आ जाय और मूर्खतावश उसे छोड़कर उस नौका की कील

के सहारे समुद्र पार करने को उद्यत हो; वह तो डूबेगा ही। इसी प्रकार व्रतों को छोड़कर केवल तप से संसार समुद्र को तैरने का अभिलाषी साधक मूढ़ है। क्योंकि व्रतों से युक्त तप ही गुणकारी होता है ।५०९।।

सुबहुँ पासत्थजणं नाऊणं, जो न होइ मज्झत्थो ।
न य साहेइ सकज्जं, कागं च करेइ अप्पाणं ।।५१०।।

शब्दार्थ : जो पासत्थजनों की शिथिलता और उनकी हठाग्रही वृत्ति का स्वरूप जानकर भी मध्यस्थ नहीं रहता, उल्टे उसकी जिज्ञासा के बिना ही उसे चलाकर उपदेश देने जाता है, उस सुसाधु को उससे कोई लाभ नहीं होता। बल्कि पासत्थ-साधक उस सुसाधु के साथ झगड़ा करके अपने दोषों को छिपाकर अपने में साधुत्व सिद्ध करने का प्रयास करेगा। अतः पासत्थ साधक को उपदेश देना अपना ही नुकसान करना है। क्योंकि वह अपना मोक्ष रूप कार्य नहीं सिद्ध कर सकता; बल्कि हितकर उपदेश देने वाले के प्रति भी वह कौए की-सी अपनी दोषदृष्टि बना लेता है ।।५१०।।

परिचिंतिऊण निउणं, जइ नियमभरो न तीरए वोढुं ।
परचित्तरंजणेणं, न वेसमेत्तेण साहारो ।।५११।।

शब्दार्थ : गहराई से निपुणतापूर्वक विचार करते हुए अगर उसे लगे कि वह साधुजीवन के मूलगुण-उत्तरगुणों के भार को उठाने में समर्थ नहीं है, तो सिर्फ दूसरों के मन को

बहलाने वाला कोरा साधुवेष उसे दुर्गति में गिरते हुए आधारभूत (सहारा) नहीं हो सकता । अर्थात्-मूलगुण-उत्तरगुणों के पालन किये बिना केवल दोष धारण करने से दुर्गति से रक्षा नहीं हो सकती ॥५११॥

निच्छयनयस्स चरणस्सुवग्घाए, नाणदंसणवहो वि ।
ववहारस्स उ चरणे हयम्मि, भयणा उ सेसाणं ॥५१२॥

शब्दार्थ : 'निश्चयनय की दृष्टि से कहे तो चारित्र के नाश होने पर ज्ञान और दर्शन भी विनष्ट हो जाते हैं । व्यवहारनय की दृष्टि से कहे तो चारित्रनाश होने पर ज्ञान-दर्शन नष्ट होते भी हैं, और नहीं भी होते हैं।' तात्पर्य यह है कि चारित्र का नाश होने पर आश्रव का सेवन करने पर ज्ञान-दर्शन दोनों नष्ट हो जाते हैं; परंतु कोई साधक मोहकर्म या विषयासक्ति के कारण चारित्र को छोड़ देता है, फिर भी उसकी श्रद्धा (दर्शन) चारित्र के प्रति पूरी है और उसके स्वरूप का भी उसे यथार्थ ज्ञान है, इसीलिए उसके ज्ञान-दर्शन चारित्र गुण के बिना भी संभव हैं ॥५१२॥

सुज्झइ जई सुचरणो, सुज्झइ सुस्सावओ वि गुणकलिओ ।
ओसन्नचरणकरणो, सुज्झइ संविग्गपक्खरुई ॥५१३॥

शब्दार्थ : सम्यग्चारित्री साधु किसी दोष के लगने पर शुद्ध हो सकता है, जो श्रावक विनय-ज्ञानादि गुणों से युक्त है, वह भी शुद्ध हो सकता है; तथा चरण-करण में शिथिल, किन्तु मोक्षाभिलाषी और क्रिया में रूचि रखने वाला संविग्न

पाक्षिक साधु भी शुद्ध हो सकता है । यानी ये सब आत्महित कर सकते हैं ॥५१३॥

संविग्गपक्खियाणं, लक्खणमेयं समासओ भणियं ।
ओसन्नचरणकरणा वि, जेण कम्मं विसोहिंति ॥५१४॥

शब्दार्थ : 'चूंकि संविग्नपाक्षिक साधुओं का लक्षण श्री तीर्थंकरदेवों ने संक्षेप में इस प्रकार का बताया है कि वे मोक्षाभिलाषी साधुओं के हिमायती होते हैं, क्रियानुष्ठान में भी रुचि रखते हैं । इस कारण चरण-करण में शिथिल होते हुए भी वे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय कर देते हैं ॥५१४॥

सुद्धं सुसाहुधम्मं कहेइ, निंदइ य निययमायारं ।
सुतवस्सियाणं पुरओ, होइ य सव्वोमरायणीओ ॥५१५॥
वंदइ न य वंदावेइ, किइकम्मं कुणइ, कारवइ नेय ।
अत्तट्ठा न वि दिक्खे, देइ सुसाहूण बोहेउं ॥५१६॥ युग्मम्

शब्दार्थ : जो साधक शुद्ध सुसाधुधर्म (क्षमा आदि १० प्रकार के श्रमणधर्म) की सुसाधु के समान प्ररूपणा करता है, अपने शिथिलाचार की निन्दा करता है और अच्छे तपस्वियों, बड़े साधुओं या नवदीक्षित साधुओं आदि सबसे अपने आपको छोटा (सबसे न्यूनरात्निक) मानता है । संविग्न लघुसाधुओं को भी स्वयं वंदन करता है, परंतु उनसे वंदन नहीं करवाता; उनकी सेवा आदि करता है, मगर उनसे सेवादि नहीं कराता; अपने पास दीक्षा लेने के लिए आये

हुए वैराग्यसंपन्न को या अपने पास दीक्षा लेने वाले को स्वयं दीक्षा नहीं देता, परंतु दीक्षा के उम्मीदवार को प्रतिबोध देकर सुसाधुओं के पास भेजकर उनसे दीक्षा दिलाता है। अर्थात् उन्हें शिष्य रूप में उसे समर्पित करता है, किन्तु स्वयं का शिष्य नहीं बनाता। इन लक्षणों से युक्त साधु को संविग्न पाक्षिक (मोक्षाभिलाषी सुसाधुओं के हिमायती) समझना चाहिए ॥५१५-५१६॥

ओसन्नो अत्तट्ठा, परमप्पाणं च हणइ दिक्खंतो ।
तं छुहइ दुग्गईए, अहिययरं बुड्डइ सयं च ॥५१७॥

शब्दार्थ : उपर्युक्त संविग्नपाक्षिक साधु के अतिरिक्त जो सिर्फ शिथिलाचार परायण साधक होता है, वह ऊपर की गाथाओं में बताये अनुसार नहीं चलता। वह अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को दीक्षा देकर अपनी और दूसरे की आत्मा का हनन करता है। क्योंकि ऐसा साधक अपने शिष्य को भी शिथिलाचार पथ पर चलाकर उसे भी दुर्गति में डालता है और अपने आपको भी पहले से भी अधिकतर रूप में संसारसमुद्र में डुबाता है ॥५१७॥

जह सरणमुवगयाणं, जीवाण निकिंतए सिरे जो उ ।
एवं आयरिओ वि हु, उस्सत्तं पन्नवंतो य ॥५१८॥

शब्दार्थ : जैसे कोई व्यक्ति अपनी शरण में आये हुए लोगों का सिर काटकर उनके साथ विश्वासघात करता है,

वैसे ही अपने पास विश्वास से आये हुए भव्यजीवों के सामने जो सूत्र (सिद्धांत) विरुद्ध प्ररूपणा करता है, उन्हें उन्मार्ग में प्रवृत्त करता है, वह आचार्य भी उनके साथ विश्वासघात-रूप मस्तक छेदन करता है ॥५१८॥

सावज्जजोगपरिवज्जणाए, सव्वुत्तमो जइधम्मो ।
बीओ सावगधम्मो, तइओ संविग्गपक्खपहो ॥५१९॥

शब्दार्थ : प्रथम और सर्वोत्तम मार्ग है-सावद्य (पापमय) व्यापार (प्रवृत्ति) का सर्वथा-त्याग रूप साधुधर्म, उसके बाद दूसरा है-सम्यक्त्वमूलक देशविरतिरूप श्रावकधर्म और तीसरा मार्ग संविग्नपक्ष का है ॥५१९॥

सेसा मिच्छदिट्ठी, गिहिलिंग-कुलिंग-दव्वलिंगेहिं ।
जह तिन्नि य मोक्खपहा, संसारपहा तहा तिण्णि ॥५२०॥

शब्दार्थ : ऊपर बताये हुए तीन मार्गों के अलावा बाकी मार्ग मिथ्यादृष्टियों के हैं । वे भी तीन हैं-गृहस्थवेषधारी, तापस, जोगी, संन्यासी आदि कुलिंगधारी और द्रव्य से साधु का वेष धारण करने वाला द्रव्यलिंगी साधक । जैसे ऊपर वाली गाथा में तीन मोक्ष के मार्ग बताये हैं, वैसे ये तीनों संसार (परिभ्रमण) के मार्ग हैं ॥५२०॥

संसारसागरमिणं, परिभमंतेहिं सव्वजीवेहिं ।
गहियाणि य मुक्काणि य, अणंतसो दव्वलिंगाइं ॥५२१॥

शब्दार्थ : इस अनादि-अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुए समस्त जीवों ने अनंत बार द्रव्यलिंगों (रजोहरण वेषों) को धारण किया है, और छोड़ा है। परंतु कोरे वेष धारण से कोई आत्महित नहीं हुआ ॥५२१॥

अच्चणुरत्तो जो पुण, न मुयइ बहुसो वि पन्नविज्जंतो ।
संविग्गपक्खियत्तं, करेज्ज लब्भिहिसि तेण पहं ॥५२२॥

शब्दार्थ : शिथिलता आदि के कारण कोई प्रमादी साधु साधु वेष रखने में अत्यंत अनुरागी है; बहुत बार आचार्य-गीतार्थसाधु आदि द्वारा उसे हितबुद्धि से समझाने पर भी साधुवेष नहीं छोड़ता है तो उसे चाहिए कि वह पूर्वोक्त लक्षणों वाला संविग्नपक्ष वाला मार्ग स्वीकार कर ले। ऐसा करने पर वह एक जन्म बिताकर आगामी जन्म में ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है ॥५२२॥

कंताररोहमद्धाण-ओमगेलन्नमाइकज्जेसु ।
सव्वायरेण जयणाइ, कुणइ जं साहुकरणिज्जं ॥५२३॥

शब्दार्थ : बड़ी भारी अटवी में, किसी शत्रु राजा द्वारा नगर पर चढ़ाई के कारण नगर-के द्वार बंद हो जाने से, उजड़ या उबड़-खाबड़ रास्ते पड़ जाने के कारण, दुष्काल, भूखमरी आदि प्रसंगों में, या बीमारी के अवसर पर भी सुसाधु अपनी पूरी ताकत लगाकर सावधान होकर यतना पूर्वक साधु के योग्य क्रिया (करणी) करता है। मतलब यह है कि ऐसे प्रबल

कारण उपस्थित होने पर साधु अपनी शक्ति-अनुसार जो कर्तव्य है, उसे यतनापूर्वक अवश्य करता है ॥ ५२३॥

आयरतरसंमाणं सुदुक्करं, माणसंकडे लोए ।
संविग्गपक्खियत्तं, ओसन्नेणं फुडं काउं ॥५२४॥

शब्दार्थ : माण संकड़े=गर्व से तुच्छ मनवाले स्वाभिमान ग्रस्त लोक के बीच शिथिलाचारी को अतिशय प्रयत्न से छोटे भी सुसाधुओं को वंदनादि सम्मान करने रूप संविग्न पाक्षिकपना प्रकट रूप में आचरण में लेना या स्पष्ट निष्कपट भाव से बहाने बनाये बिना वैसा आचरण करना अत्यंत दुष्कर है ॥५२४॥

सारणचइआ जे गच्छनिग्गया, पविहरंति पासत्था ।
जिणवयणबाहिरा वि य, ते उ पमाणँ न कायव्वा ॥५२५॥

शब्दार्थ : किसी साधक को आचार्यादि द्वारा विस्मृत कर्तव्य को बारबार याद दिलाने पर या 'इस कार्य को इस प्रकार करो, ऐसे नहीं, इस प्रकार बार-बार टोकने पर-यानी हितशिक्षा देने पर वह क्षुब्ध और उद्विग्न होकर, आवेश में आकर उस गच्छ का परित्याग करके साध्वाचार-विचार छोड़कर स्वच्छंद-विहार करता है, तो वह पासत्था है और जिनाज्ञा-बाह्य है; अर्थात् जो पहले चारित्र का दोष-रहित पालन करता है, लेकिन बाद में उसमें प्रमादी हो गया है; तो उसके साधुत्व को प्रमाण रूप नहीं मानना चाहिए ॥५२५॥

हीणस्स वि सुद्धपरुपगस्स, संविग्गपक्खवाइस्स ।
जा-जा हवेज्ज जयणा, सा-सा निज्जरा होइ ॥५२६॥

शब्दार्थ : कोई साधक उत्तरगुणों में कुछ कमजोर (शिथिल) होने पर भी प्ररूपणा विशुद्धमार्ग की करता है, संविग्न साधुओं का पक्षपाती है, वह ऐसे प्रबल कारणों के उपस्थित होने पर बहुत दोष वाली वस्तुओं के त्याग तथा अल्पदोष वाली वस्तुओं के ग्रहण रूप यतना जितनी-जितनी यथाशक्ति, यथामति करता है उतनी-उतनी उसके कर्मों की निर्जरा (एक अंश से कर्मक्षय) होता जाता है ॥५२६॥

सुंकाई परिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चेट्ठं ।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठुं समायरइ ॥५२७॥

शब्दार्थ : जैसे कोई वणिक् (व्यापारी) तभी व्यापार करता है, जब राज्य का कर, दूकान, नौकर आदि का खर्च निकालकर उसे लाभ होता हो; वैसे ही गीतार्थ मुनि भी शास्त्रज्ञान से लाभालाभ जानकर उल्पदोष-बहुलाभ (आय) वाला कार्य यतनापूर्वक करता है ॥५२७॥

आमुक्क जोगिणो च्चिय, हवइ थोवा वि तस्स जीवदया ।
संविग्गपक्खजयणा, तो दिट्ठा साहुवग्गस्स ॥५२८॥

शब्दार्थ : जिसने संयमयोग्य प्रवृत्ति (व्यापार) सर्वथा छोड़ दी है, उस साधु के हृदय में यदि थोड़ी-सी भी

जीवदया हो तो वह मोक्षाभिलाषी संविग्न साधुओं का पक्षपाती बनकर अपनी साधुता को बचा सकता है । क्योंकि तीर्थंकरों ने उस संविग्नपक्ष की यतना बतायी है और उसे साधुवर्ग में प्रामाणिक मानी है ॥५२८॥

किं मूसगाण अत्थेण ? किं वा कागाण कणगमालाए ? ।
मोहमलखवलिआणं, किं कज्जुवएसमालाए ॥५२९॥

शब्दार्थ : चूहों को धन से क्या मतलब ? अथवा कौओं को सोने की माला से क्या प्रयोजन ? इसी प्रकार मोह-मिथ्यात्व आदि कर्मरूपी मल से मलिन बने हुए जीवों को इस 'उपदेशमाला' से क्या लाभ ? अर्थात् गुरुकर्मी जीवों के लिए यह उपदेशमाला किसी भी काम की नहीं है । लघुकर्मी जीवों के लिए ही यह हितकारिणी है ॥५२९॥

चरणकरणालसाणं, अविणयबहुलाण सययऽजोगमिणं ।
न मणि सयसाहस्सो, आबज्झइ कोच्छभासस्स ॥५३०॥

शब्दार्थ : जो चरण और करण के पालन में आलसी हैं और जिनके जीवन में प्रचुर मात्रा में अविनय भरा हुआ है, उनके लिए भी यह 'उपदेशमाला' सदा अयोग्य है । क्योंकि चाहे लाख रुपये का मणि हो फिर भी वह जैसे कौए के गले में बांधने योग्य नहीं होता, इसी प्रकार इस बहुमूल्य उपदेशरत्न-माला का भी ऐसे अयोग्य के पल्ले बाँधना अनुचित है ॥५३०॥

नाऊण करयलगयाऽऽमलं व, सब्भावओ पहं सव्वं ।
धम्मंमि नाम सीइज्जइ त्ति, कम्माइं गुरुयाइं ॥५३१॥

शब्दार्थ : हथेली पर रखे हुए आंवले के समान सद्भाव से अथवा सत्यबुद्धि से ज्ञानादिमय मोक्षमार्ग को स्पष्ट रूप से जानकर भी यह जीव जो धर्माचरण करने से घबराता-कतराता है, उसमें उसके भारी कर्मों को ही कारणभूत समझना चाहिए । अर्थात् वह जीव गुरुकर्मा होने से ज्ञानावरणीयादि कर्मों की प्रचुरता के कारण जानते हुए भी धर्माराधना नहीं कर सकता । लघुकर्मी जीव को ही धर्माचरण में स्वाभाविक रुचि या प्रीति होती है ॥५३१॥

धम्मत्थकाममोक्खेसु, जस्स भावो जहिं-जहिं रमइ ।
वेरग्गेगंतरसं न इमं, सव्वं सुहावेइ ॥५३२॥

शब्दार्थ : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में से जिस-जिस पुरुषार्थ में होता है, वह उसीमें रमण करता है । अर्थात् जीवों की भावना (रुचि) विभिन्न पदार्थों में विविध प्रकार की होती है । इसीलिए एकांत वैराग्यरस-शांतरस से परिपूर्ण यह उपदेशमाला सभी जीवों को सुखदायिनी प्रतीत नहीं होती । परंतु जो शांतरसार्थी आत्मार्थी जन हैं, उन्हें सारी उपदेशमाला वैराग्यरसपोषिका होने से अत्यंत सुखदायिनी प्रतीत होगी ॥५३२॥

संजमतवालसाणं, वेरग्गकहा न होइ कण्णसुहा ।
संविग्गपक्खियाणं, होज्ज व केसिंचि नाणीणं ॥५३३॥

शब्दार्थ : १७ प्रकार के संयम और १२ प्रकार के तप के आचरण में जो प्रमादी हैं, उनके कानों को यह वैराग्यकथा सुखदायिनी नहीं लगती । यह तो संविग्नपाक्षिक किन्हीं ज्ञानी पुरुषों को ही सुहाती है । उन्हीं कानों को यह उपदेशमाला रूचिकर-सुखकर लगती है, सभी को नहीं ॥५३३॥

सोऊण पगरणमिणं, धम्मे जाओ न उज्जमो जस्स ।
न य जणियं वेरग्गं, जाणिज्ज अणंतसंसारी ॥५३४॥

शब्दार्थ : वैराग्यरस से परिपूर्ण इस उपदेशमाला-प्रकरण को सुनकर भी जिसके दिल में धर्माचरण में पुरुषार्थ करने का उल्लास नहीं पैदा होता, और न पंचेन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्ति पैदा होती है, समझो, वह अनंतसंसारी है । मतलब यह है कि अनंतसंसारी जीव को बहुत उपदेश देने पर भी वैराग्य पैदा नहीं होता ॥५३४॥

कम्माण सुबहुयाणुवसमेण, उवगच्छई इमं सम्मं ।
कम्मलचिक्कणाणं, वच्चइ पासेण भण्णंतं ॥५३५॥

शब्दार्थ : जब किसी जीव के कर्मों का अत्यधिक मात्रा में उपशम होता है, तभी वह उपदेशमाला के तत्त्वज्ञान को भली-भांति प्राप्त कर सकता है । परंतु जिन व्यक्तियों पर निकाचित

कर्मों की चिकनाहट मजबूती से चिपकी हुई है, वे गुरुकर्मा जीव इस ग्रंथ के बार-बार कहने-सुनने पर भी इसके परमार्थ को नहीं समझ सकते; आचरण की बात तो दूर रही ॥५३५॥

उवएसमालमेयं, जो पढइ सुणइ कुणइ वा हियए ।
सो जाणइ अप्पहियं, नाऊण सुहं समायरइ ॥५३६॥

शब्दार्थ : जो पुरुष इस उपदेश माला का अध्ययन करता है, श्रवण करता है और हृदय में धारण करता है, अथवा उसका परम रहस्य समझकर उसके अर्थ का चिन्तन-मनन करता है; वह इहलोक और परलोक दोनों का आत्महित जान लेता है और स्वहित का मार्ग जानकर सुख-पूर्वक उस पर अमल करता है एवं अंत में मोक्षसुख प्राप्त करता है ॥५३६॥

धंतिमणिदामससिगयणिहिपयपढमक्खराण,
नामेणं(भिहाणेण) ।
उवएसमालपगरणमिणमो,
रइअं हियट्ठाए ॥५३७॥

शब्दार्थ : धंत, मणि, दाम, ससि, गय और णिधि इन ६ शब्दों के आदि के अक्षरों को जोड़ने से निष्पन्न नाम वाले 'धर्मदासगणि' ने स्वपरहित के लिए यह 'उपदेशमालाप्रकरण' बनाया है ॥५३७॥

जिणवयणकप्परुक्खो,
अणेगसुत्तत्थसालि (सत्थत्थसाल)वित्थिन्नो ।
तवनियमकुसुमगुच्छो,
सोग्गइफलबंधणो जयइ ॥५३८॥

शब्दार्थ : अनेक सूत्र और अर्थ रूपी शाखाओं से विस्तीर्ण, तप-नियम रूपी फूलों के गुच्छों वाला और देव-मनुष्यादि सुगति या मोक्षगति रूपी उत्तम फल देने वाला द्वादशाङ्गी जिनवचन रूप कल्पवृक्ष विजयी हो ॥५३८॥

जोग्गा सुसाहुवेरग्गियाण, परलोग-पत्थियाणं च ।
संविग्गपक्खियाणं, दायव्वा बहुस्सुयाणं च ॥५३९॥

शब्दार्थ : यह उपदेश माला वैराग्यवान सुसाधुओं के, परलोक का हित साधन करना चाहने वालों के और संविग्न-पाक्षिकों तथा बुहुश्रुतजनों के ही पठन-पाठन-योग्य जानकर उन्हींको देनी (बतानी या सिखानी) चाहिए । क्योंकि यह उत्तम ग्रंथ विद्वानों को ही आनंद देने वाला है, मूर्खों को नहीं ॥५३९॥

इय धम्मदासगणिणा, जिणवयणुवएसकज्जमालाजो ।
मालव्व विविहकुसुमा, कहिआ य सुसीसवग्गस्स ॥५४०॥

शब्दार्थ : जैसे विविध फूलों से माला गूंथी जाती है, वैसे ही श्रीधर्मदासगणि ने जिनवचनोपदेश के अक्षर रूपी फूलों को चुन-चुनकर यह 'उपदेशमाला' बनायी और अपने

सुशिष्यवर्ग के सामने समय-समय पर उपदेश के रूप में कही है ॥५४०॥

संतिकरी वुड्ढिकरी, कल्लाणकारी, सुमंगलकरी य ।
होइ कहगस्स परिसाए, तह य निव्वाणफलदाई ॥५४१॥

शब्दार्थ : यह उपदेशामाला व्याख्यान देने वाले (उपदेशक) वक्ता और व्याख्यान सुनने वाले श्रोताजनों के क्रोधादि विकारों को शांत करने वाली, उनमें ज्ञानादि गुणों की वृद्धि करने वाली स्व-पर कल्याणकारिणी तथा इस लोक में धन या शिष्यादि वैभव रूप और परलोक में वैमानिक देवों के ऋद्धि-समृद्धि-सुखादि मंगल को देने वाली अथवा परलोक में समस्त जन्म-मरण-कर्मादि बंधनों से छुटकारा दिलाकर निर्वाणफल दायिनी है । अर्थात्-इस ग्रंथ के व्याख्याता और श्रोता दोनों को कथन-श्रवण से उत्तम फल मिलता है ॥५४१॥

इत्थ समप्पइ इणमो, माला उवएसपगरणं पगयं ।
गाहाणं सव्वाणं, पंचसया चेव चालीसा ॥५४२॥

शब्दार्थ : 'इस प्रकार प्राकृतभाषा में रचित माला के रूप में प्रस्तुत उपदेश-प्रकरण यहाँ संपूर्ण कर रहे हैं । इसकी सब मिलाकर ५४० गाथाएँ हैं' ॥५४२॥ (दो गाथाएँ प्रक्षिप्त समझनी चाहिए)

जावय लवणसमुद्दो, जावय नक्खत्तमंडिओ मेरु ।
तावय रइया माला, जयंमि थिरथावरा होउ ॥५४३॥

शब्दार्थ : जब तक संसार में लवण-समुद्र मौजूद है और जब तक नक्षत्रों से सुशोभित मेरु-पर्वत विद्यमान है, तब तक धर्मदासगणि विरचित यह उपदेश माला शाश्वत पदार्थ के समान स्थायी रहे ॥५४३॥

अक्खरमत्ताहीणं, जं चिय पढियं अयाणमाणेणं ।
तं खमह मज्झ सव्वं, जिणवयणविणिग्गया वाणी ॥५४४॥

शब्दार्थ : इस उपदेश माला ग्रंथ में अज्ञानवश अनजान में मुझसे कोई अक्षर या मात्रा न्यूनाधिक पढ़ी या कही गयी हो तो जिन भगवान् के मुखकमल से निसृत वाणी भगवती श्रुतदेवी मेरी समस्त भूलों को क्षमा करें ॥५४४॥

॥ इति श्री धर्मदासगणिविरचित उपदेशमालाप्रकरण समाप्त ॥

॥ श्रोतृवाचकयोः शुभं भूयात् ॥

● ● ●